मेरा परिवार

एक सोवियत माता, नटालिया अलेक्ज़ेन्द्रोवना फ्लौमर का
शिशु-संगोपन और पारिवारिक समस्याओं से सम्बन्धित
अद्भुत, मनोवैज्ञानिक और औपन्यासिक
आत्म चरित्र

अनुवादक
श्याम् संन्यासी

प्राप्तिस्थान
स्वामी एण्ड कम्पनी
प्रकाशक और पुस्तक विक्रेता
भीमराज बिल्डिंग ४०५ कालबादेवी रोड, बम्बई–२

मेरा परिवार :: नवसर्जन ग्रंथावलि प्रकाशन-२

प्रथम संस्करण : नवम्बर १९४९

११०० प्रतियाँ

मूल्य :

चार रुपए

मुद्रक-प्रकाशक : जमनादास माणेकचन्द रवाणी

अनेकान्त मुद्रणालय, मोटा आँकड़िया, काठियावाड़

पुस्तक के सम्बन्ध में—

इस पुस्तक की लेखिका, श्रीमती नटालिया अलेक्ज़ेन्द्रोवना फ्लौमर, एक ऐसी सोवियत महिला हैं, जिनके अपनी कोई सन्तान नहीं हो पाती। इसलिए वह बच्चों को गोद लेती हैं। उनका मातृत्व इतना प्रबल है कि केवल एक या दो बच्चों को गोद ले लेने से उनका मन नहीं भरता। वह एक के बाद एक, पूरे पाँच बच्चे गोद लेतीं और उन सबका अपनी पेट की सन्तान की ही तरह पालन-पोषण करती हैं। पाँच बच्चों के बाद बुढ़ापे में वह एक छठवें बच्चे के लालन-पालन का भार भी अपने ऊपर लेती हैं।

बीमारी, भयङ्कर आर्थिक-सङ्कट और तिस पर विभिन्न रुचि और विभिन्न वंश-परम्परा के पाँच बालकों के लालन-पालन का बोझा हँसी-मज़ाक नहीं है। गम्भीर से गम्भीर माताएँ भी झल्ला उठती हैं, झुँझलाकर अपने पेट-जाये बच्चों को मार चलती हैं। परन्तु फ्लौमर माता छड़ी, डाँट-डपट और घूँसे-धमाके के प्रचलित मार्ग को छोड़कर एक दूसरा ही रास्ता अपनाती हैं। वह प्रत्येक बालक की रुचि और मनोवैज्ञानिक जटिलता का अध्ययन कर उसके अनुसार अपनी कार्यनीति बनातीं और हर समस्या का सफलतापूर्वक समाधान करती जाती हैं। उनकी यह नीति इतनी सफल और सही साबित होती है कि सोवियत सरकार फ्लौमर-दम्पत्ति का सार्वजनिक रूप से अभिनन्दन करती और सोवियत में श्रमिकों को दिये जानेवाले श्रेष्ठ पुरस्कार 'आर्डर आफ लेनिन' से उन्हें पुरस्कृत करती है।

'मेरा परिवार' में फ्लौमर माता ने अपने जीवन की यही कथा बड़ी ही सरल और व्यंजनापूर्ण शैली में कही है। मनोविज्ञान, शिशु-संगोपन और पारिवारिक समस्याओं पर लिखी गई यह पुस्तक कहीं भी जटिल और नीरस नहीं होने पायी है। लेखिका ने लोक-कथा की विश्वविख्यात शैली को अपनाकर 'आप बीती' कुछ इस तरह कह सुनाई है कि पाठक को इसमें किसी सुप्रसिद्ध उपन्यास लेखक की शैली का आनन्द आता और वह पन्ने पर पन्ने लौटता जाता है।

हमारे देश में भी, एक नहीं, अनेकों फ्लौमर माताएँ हैं और यदि उन सबके अनुभव इसी प्रकार ग्रथित किये जायँ तो भारतीय माताओं का कितना उपकार हो सकता है! परन्तु जब तक देश पूँजीवादी आर्थिक और सामाजिक ढाँचे से बाहर नहीं निकलता, तब तक देश में मातृत्व अपने सर्वोच्च पद पर प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता। इस पुस्तक को हिन्दी में प्रस्तुत करने का मेरा एकमात्र उद्देश्य यही है कि भारतीय माता-पिता फ्लौमर माता के अनुभवों से सीखें, उन अनुभवों में वृद्धि करें, और एक ऐसे समाज की रचना करें, जिनमें सब बच्चे सचमुच फूलों की तरह खिल सकें, राजकुमारों की तरह उनका लालन-पालन हो और हर स्त्री-पुरुष माता-पिता बनने में गौरव का, हाँ, गौरव का, आज की तरह परेशानी और पीड़ा का नहीं, गौरव का अनुभव कर सकें।

—श्यामू संन्यासी

पहला परिच्छेद

ब्रोनाया स्ट्रीट वाले उस छोटे-से मकान में काफी भीड़-भाड़ थी। बच्चों का कमरा (नर्सरी) अन्धेरा था। उसमें तीन बिस्तरे और एक बड़ी सन्दूक धरी थी। वह सन्दूक आया के सोने के काम आती थी। तीन बिस्तरों में से एक बिस्तरा उस पीली और धुन्नी बालिका का था, जिसका नाम मैं बिलकुल ही भूल गई हूँ। इससमय सिर्फ इतना याद है कि उस बालिका का पिता एक व्यापारी था। उसका नाम गोरेलिन था; और घर के बड़े-बूढ़े सदैव ही बड़ी घृणा और तुच्छतापूर्वक उसके नाम का उल्लेख करते थे।

बाक़ी के दोनों बिस्तरों में से एक मेरा और दूसरा मिशा का था। उससमय भी मैं इतना जानती थी कि मिशा मेरा बड़ा भाई है। मैं मिशा को प्यार करती थी, परन्तु साथ ही उससे थोड़ा डरती भी थी। मिशा मेरे प्रति व्यवहार में लापर्वाह-सा था; लेकिन जब कभी गोरेलिन की बेटी अन्धेरे गलियारे में मेरे चिकोटियाँ काटने लगती तो वह तुरन्त मुझे छुड़ाने आजाता था।

सारा मकान घुटा-घुटा-सा था। उसमें उजेले का नामतक नहीं था। स्वयं हमारा अपना कमरा भी काफी अन्धेरा था और उसमें एक भी खिड़की नहीं थी। उसे 'नर्सरी' कहना भी ज्यादती ही थी। न उसमें खिलौने थे और न हम बालकों के मन को लुभाने और खुश करने वाली दूसरी कोई चीज़ ही थी। और तो और, बालकों के कमरों में आमतौर से पाये जाने

वाले चीनी मिट्टी के टूटे-फूटे खिलौने, फटा-पुराना भालू, कपड़ों की गुड़िया, लकड़ी के गट्टे, रेल-मोटर आदि कुछ भी नहीं था ।

और, न हमारी माँ ही थी !

घर में रहनेवाली सब हमारी 'मौसियाँ' थीं । जूलिया मौसी पेशे से दाई थीं । वह बड़ी ही चतुर, मोटी-ताज़ी और फुर्तीली थीं । उनकी आवाज़ बुलन्द थी और वह हरसमय अपनी आस्तीनें ऊपर को चढ़ाये रहती थीं । मकान की मालकिन भी वही थीं ; हम तीनों बच्चे उनके घर में किराये से रहते थे । माशा मौसी जूलिया मौसी की बहिन थीं । घर का प्रबन्ध उन्हीं के ज़िम्मे था । वह बिलकुल नन्हीं मुन्नी-सी और शान्त स्वभाव की महिला थीं । घर में चुप-चाप छाया की तरह रहती थीं, परन्तु मजाल क्या कि उनके इन्तजाम में कोई खामी आजाय ।

घर में पुरुष कोई नहीं था । तीसरी महिला हम बच्चों की बूढ़ी आया थी । वही हमारे निकट सम्पर्क में आती थी । हमें दुखद कहानियाँ सुनाने में उसे बड़ा मज़ा आता था । रोज़ काफी रात बीतेतक, कमरे के एक कोने में लटकी हुई पुरानी मूर्तियों के आगे, घण्टों प्रार्थना करना उसका नित्यनियम ही बन गया था । अकसर अपनी नींद में भी मैं, मूर्तियों के आगे, उसका काँखना-कराहना सुना करती थी ।

तीनों बच्चों में मैं ही उसकी लाड़ली थी । कारण शायद यह होसकता है कि मैं न तो नटखट थी और न उसे परेशान ही करती थी ।

अपने बूढ़े और सिकुड़ी खाल वाले हाथ से मेरा माथा सहलाती हुई वह कहा करती थी—मेरी लाड़ली, तू कितनी शान्त और सुशील है !

वार-त्यौहार पर वह मुझे मुँह-अँधेरे जगाती थी । हम चुपचाप और जल्दी-जल्दी कपड़े पहिनते और सुनसान सड़कों पर होते हुए गिर्जाघर की ओर चल देते थे । जब आया मेरा हाथ पकड़कर मुझे पत्थर के बने विशाल गिर्जाघर के अन्दर लेजाती तो मैं उससमय सवेरे की ठण्ड की

वजह से काँपने लगती थी। गिर्जाघर के अन्दर जलते हुए धूप की गन्ध, छोटे पादरी की बुलन्द आवाज़ के साथ मिली हुई प्रार्थना की लरजती हुई समवेतध्वनि और अगणित मोमबत्तियों की काँपती हुई ज्योति मेरे नन्हें-से मन में एक अवर्णनीय भय और संभ्रम का भाव उत्पन्न कर देती थीं।

मुझे गिर्जाघर जाना बिलकुल अच्छा नहीं लगता था; लेकिन इस डर से कि कहीं आया नाराज़ न होजाय, मन मसोसकर जाती थी। रात होते ही आया अपनी अँगीठी के आगे इत्मिनान के साथ जम जाती, अँगीठी का दरवाज़ा खोलकर अङ्गारों को दहकाती और अपनी कहानियाँ सुनाने लगती थी। मैं या तो उसकी बगल में लिपट जाती या नीचे फ़र्श पर बैठकर, दम साधे हुए, उसकी शान्त और मनहूस-सी आवाज़ की भूलभुलैया में खोजाती थी। मेरे खयाल में, मेरे बचपन का सबसे अच्छा वक्त भी वही होता था। अकसर वह मुझे जलाऊ लकड़ी की अनोखी कहानी सुनाती थी। और वही कहानी मुझे सबसे ज्यादा पसन्द भी थी।

आज मुझे न तो उस कहानी का विषय और न आरम्भ ही याद रहा है। सिर्फ़ इतना याद है कि आया अँगीठी में 'सूँ-सां' करती गीली लकड़ियों की ओर देखती हुई निम्न शब्दों के साथ अपनी कहानी समाप्त करती थी—

'तो तुम देख रही हो न, मेरी लाड़ली, कि लकड़ियाँ कैसे उबलते हुए आँसू बहा रही हैं! वे इसलिए रो रही हैं कि अब उनकी मुक्ति के सब रास्ते बन्द होगये हैं!'

और जब-जब मैं इन शब्दों को सुनती थी मेरा दिल काँप उठता था और उन अभागी लकड़ियों के लिए दया से भर आता था।

कभी-कभी मेरे पिताजी भी ब्रोलाया स्ट्रीट वाले मकान में आजाते थे। वह लम्बे और सुडौल थे, तथा एक लम्बा कोट पहिना करते थे। उनके हाथ बिलकुल सूखे-सूखे और सफेद थे। अकसर उनके साथ एक खूबसूरत और साफ़-सुथरी औरत भी आया करती थी। उसके साये (लहँगे) से

सरसराहट की आवाज़ और तङ्ग दस्ताने वाले हाथों से हलकी-हलकी सुगन्ध आती थी। लेकिन वह अपना मुँह हमेशा एक काले और भारी बुर्के में छिपाये रहती थी। हमें इस औरत को सीमा मौसी के नाम से पुकारने के लिए कहा गया था।

जब पिताजी उस औरत के साथ आते थे तो मेरे और मिशा के कपड़े बदले जाते, कंघी-चोटी की जाती और फिर हमें बैठक में लाया जाता था। वह औरत अपना बुर्का उठाकर हमारे कपालों का बे मन से चुम्बन करती थी। उसका वह निष्प्राण चुम्बन हममें भय की सिहरन उत्पन्न कर देता था।

'कहो जी, अच्छे तो हो? घूमने जाते हो? खाना तो भरपेट मिलता है?' आदि टकसाली सवाल वह इसतरह जल्दी-जल्दी पूछती थी मानों खाना-पूरी कर रही हो।

उसकी उपस्थिति में हम इतने डर जाते थे कि हर प्रश्न का एक ही बँधा-सधा जवाब 'हाँ' देकर छुट्टी पा जाते, और उसके बाद बैठक में एक मनहूस शान्ति छा जाती थी।

वह औरत कुछ चिढ़े हुए स्वर में कहती—अच्छा, अब तुम बाहर जाओ और खेलो। लेकिन मारे डर और घबराहट के हम सुध-बुध ही भूल जाते थे और वहीं ठूँठ की तरह खड़े रहते थे।

लेकिन जब हमारी धर्म की माँ 'माकोशा' आती थीं तो हमारी खुशी का पार नहीं रहता था। वह दिन हमारे लिए सही अर्थों में त्यौहार होता था। उनका नाम तो मेरिया इवानोवनासोत्ज़ था लेकिन सब कोई उन्हें 'माकोशा' के प्यारे नाम से पुकारते थे। वह सेरतेन्स्काया स्ट्रीट की स्थानीय पाठशाला में अध्यापिका थीं। बाद में मुझे उनके सम्बन्ध में कई अच्छी बातें जानने को मिलीं। वह बड़ी ही असाधारण सुसंस्कृत, मेधावी और आत्म-त्यागी महिला थीं। वह कुँआरी थीं और अपने छात्रों के लिए उन्होंने

अपना जीवन उत्सर्ग कर रखा था। एक शराबी रसोइये की दो बेटियाँ उनके साथ रहती और उन्हें 'माँ' कहती थीं।

जब 'माकोशा' हमारे यहाँ आती थीं तो हमारे मनहूस घर में भी चहल-पहल मच जाती थी। बच्चों का मन जीतना वह अच्छीतरह जानती थीं। उनकी उपस्थिति में गोरेलिन की छुन्नी बिटिया तक अपना मुँह फुलाना छोड़ देती थी।

जब मैं चार साल की होगई तो पिताजी मुझे और मिशा को अपने घर लेगये। स्कलीफासोव अस्पताल में वह डाक्टर थे और अस्पताल की ओर से उन्हें वहीं रहने के लिए जगह दीगई थी। उनके तीन बच्चे और थे। ये बच्चे उन्हें जिस औरत से हुए थे उसके साथ उन्होंने कभी शादी नहीं की थी। वह औरत क्षय के कारण समय से पहले ही मर गई थी।

पिताजी के घर के कमरे बड़े और उजेले थे। यहाँ हम गृहस्वामी के बच्चों की हैसियत से काफी आराम से रहते थे। लेकिन माँ हमारी अब भी नहीं थीं। हाँ, पहले की तरह बुर्केवाली मौसी यहाँ भी हमसे मिलने आती रहती थी।

ईस्टर और क्रिसमस की छुट्टियों में 'माकोशा' हमें अपने घर लिवा जाती थीं। वह स्कूल की इमारत में ही रहती थीं। उनका छोटा-सा घर बड़ा ही आरामदेह और साफ-सुथरा था। क्रिसमस के दिनों में वह 'क्रिसमस ट्री' भी बनाती थीं। उनके साथ हम बाजार से रंग, खिलौने और मिठाई खरीदने जाते थे। सारी सजावट हम अपने हाथों से ही करते थे—पन्नी काटते, अखरोट पर पन्नी लगाते, धागों में मिठाई पिरोते और अपने क्रिसमस की सजावट करते थे। ऊनी शाल ओढ़े और फेल्ट के मुला-यम जूतों में बिना आवाज़ किये इधर से उधर घूमती हुई 'माकोशा' की दयापूर्ण मुस्कराहट उनका अस्फुट स्वर और फुर्ती से काम करते हुए हाथों को मैं अब भी देख-सुन सकती हूँ। यह सब इतना प्यारा था कि आज भी याद आते ही मन मारे खुशी के रोना चाहता है।

क्रिसमस की सांझ को हम झांकी सजाते थे। झाड़ के ऊपर, आस-पास और चारों तरफ खूब सारे दीये वाले जाते थे। फिर 'माकोशा' के विद्यार्थी आना शुरू हो जाते। आतिशबाजी छोड़ी जाती और बच्चों का समवेतस्वर गूंज उठता था। मैं सिर पर एक रुमाल बांधकर नाचती थी। खूब तालियां बजतीं और हंसी-खुशी होती थी। जब मोमबत्तियां बुझने को होतीं, हम तमाम कुर्सियों को औंधा कर देते। फिर उन्हें 'माकोशा' की गरम शाल से ढँककर जहाज़ बनाते थे। इस जहाज़ पर सवार होकर हम अपरिचित देशों को खोजने के लिए निकल जाते थे। साहसपूर्ण यात्राओं के इन खेलों में वीरता का सेहरा हमेशा मिशा के सिर बँधता था। मैं अकसर बन्दी बनती थी और मुझे बन्दी बनाने के लिए मिशा को हबशी-सरदार से अपार धन मिलता था।

मेरे पिताजी और काले बुर्केवाली कभी 'माकोशा' के यहां नहीं आते थे।

दिन इसीतरह बीत रहे थे। 'माकोशा' के यहां छुट्टियां बिताने और पिताजी के लम्बे-चौड़े मकान में रहने के हम अभ्यस्त होगये थे। कि सब-कुछ एकाएक बदल गया!

एकदिन साढ़ेनौ बजे के लगभग पिताजी अपने कुछ मित्रों के यहां से लौटकर आये और हमारे साथ भोजन करने बैठे। उससमय वह बड़े ही प्रसन्न थे और हमारे साथ हंसी-मज़ाक कर रहे थे। उन दिनों घर की देख-भाल और हम बच्चों की सार-सँभाल करने के लिये हमारे साथ एक वृद्ध महिला रहती थीं। पिताजी उन्हें चाची कहकर पुकारते थे। चाची ने प्याले में चाय डाली और पिताजी को दे ही रही थीं कि वह अकड़ गये। उनके मुँह से चीख निकली और वह धड़ाम से जमीन पर आ गिरे। हम मारे घबराहट के खड़े होगये। चाची खिड़की खोलकर कांपती हुई आवाज़ में चिल्लाने लगीं:—

'दौड़ो! दौड़ो! मदद करो!'

चौकीदार दौड़ा आया और उसने पिताजी को उठाकर सोफे पर लिटा दिया। फिर मैंने उसे अपनी टोपी उतारते हुए देखा।

'परमात्मा इन्हें शान्ति दे।' उसने धीरे से कहा।

चाची ज़ोर-ज़ोर से रोने लगीं और चिन्तित होगईं।

'सीमा मौसी को खबर करना चाहिये।'

सीमा मौसी हमेशा की तरह बुर्का ओढ़े आईं। उसके बाद जो कुछ हुआ सो तो ठीक से याद नहीं रहा; लेकिन इतना जानती हूँ कि सीमा मौसी मुझे उनके घर लेगईं। मिशा को जाने क्यों पिताजी के यहीं छोड़ दिया गया। सीमा मौसी ने घर लेजाकर मुझे एक कमरे में सुला दिया। उस कमरे को वहाँ वाले 'ड्रेसिंग रूम' कहते थे। उस कमरे में कई अलमारियाँ, तीन चौखट का एक कांच और कोने में एक मोरी थी। काँच में देखते मुझे डर लगता था। जाने क्यों मेरे दिमाग़ में यह बात घर कर गई थी कि काँच में मुझे पिताजी की शकल दिखलाई पड़ेगी। मैं एक सँकरे पलङ्ग पर लेट गई। मैंने अपनी आँखें कसकर मूँद ली थीं। दो-दो रजाइयाँ ओढ़ने के बाद भी मैं सारी रात काँपती रही।

सवेरे, जब मैं जागी, मैंने सीमा मौसी को अपने बिस्तरे के पास झुककर रोते हुए पाया। मैंने उन्हें धीरे से कहते सुना—ठीक अपने बाप को पड़ी है। मुझे जागते देख वह कठोर पड़ गईं।

'पिताजी मर गये।' यह कहती हुईं वह उठीं और अपने कमरे में चली गईं।

तीन दिन बाद मेरे पिताजी दफनाये गये। शव-मञ्जूषा में जब मैंने उन्हें देखा, तो उनका चेहरा बिलियर्ड की हाथी-दाँत की गेंद की तरह होगया था।

पिताजी की उत्तर-क्रिया के बाद मुझे फिर सीमा मौसी के यहाँ पहुँचा दिया गया।

सीमा मौसी अलग से अकेले मकान में रहती थीं। वह विधवा थीं और उनके दो बच्चे थे। यह किंवदन्ति थी कि उनका पति एक अमीर शराबी था, और सन्निपात के रोग से उसकी मृत्यु हुई थी।

सीमा मौसी की बड़ी लड़की का नाम सेराफिमा था। वह मुझे बड़े लाड़-प्यार से रखती थी। मिशा कभी-कभी मिलने आ जाया करता था। कभी वह दो-तीन हफ्तों के लिये आता, कभी पिताजी के रिश्तेदारों के यहाँ चला जाता और कभी बोर्डिङ्ग स्कूल में रहता था।

सीमा मौसी ने मेरे लिए एक गवर्नेस नियुक्त कर दी थी। उसे आदेश दिया गया था कि वह मुझे मिस् (कुमारी या बाईसाहब) कहकर पुकारे। अब मेरे जीवन का एक नया अध्याय शुरू हुआ जो ब्रोन्नाया स्ट्रीट वाली चाल या पिताजी के यहाँ के जीवन से सर्वथा भिन्न था।

सीमा मौसी की अमलदारी में सबकुछ काफी शान-शौकत का परन्तु साथ ही रूखा और उदासीनता लिये हुए भी था। सीमा मौसी स्वयं भी बड़े रूखे मिजाज़ की, दूर-दूर रहनेवाली और प्रतापी महिला थीं। उनके घर में ठण्डी छाँह की तरह मुझे सुख पहुँचाने वाला सिर्फ एक व्यक्ति था। और वह थी सेराफिमा। उसी की वजह से मेरा वहाँ का जीवन असहनीय नहीं हुआ था।

सीमा मौसी को हम बच्चों की जिन्दगी में कोई दिलचस्पी नहीं थी। जब मैं स्कूल जाने के योग्य होगई तो वह मुझे मेरिन्स्की इन्स्टीट्यूट लेगई। वहाँ मेरी बुआ अध्यापिका थी और मैं शीघ्र ही भर्ती करली गई। लेकिन मेरिन्स्की में मैं कुल जमा छह महीने पढ़ सकी। उसके बाद मुझे लेकर काना-फूसियाँ होने लगीं; बुआ रहस्यमय ढंग से आहें भरने और आँखें मसलने लगीं। और, यह सब इस सीमातक बढ़ गया कि अन्त में, सीमा मौसी आकर मुझे वापिस घर लिवा लेगईं।

उसके बाद दो सालतक मैं घर पर ही पढ़ती रही।

एकदिन सवेरे, जब उनके बच्चे स्कूल चले गये, तो मैंने जी कड़ा-कर उनसे कहा कि मुझे भी स्कूल भेज दो।

सीमा मौसी ने कन्धे मटकाकर कहा:–'सिवा इसके कि तुम घर पढ़ो और कोई चारा नहीं है। मैं तुम्हें स्कूल नहीं भेज सकती।'

सीमा मौसी ने कोई कारण नहीं बतलाया। इसलिये मैंने यह निष्कर्ष निकाला कि बे माँ-बाप की लड़कियाँ भर्ती नहीं की जाती होंगी। कुछ दिनों बाद मैं एक बोर्डिङ्गस्कूल में भर्ती की गई। मुझे बड़ी खुशी हुई। मैं उस स्कूल में दो साल रही। गर्मी और सर्दी की छुट्टियों में भी मैं वहीं रहती थी। गर्मी की छुट्टियों में स्कूल की सब लड़कियाँ चली जाती थीं। सिर्फ मैं और मेरे जैसी दो-चार अनाथ लड़कियाँ रह जाती थीं। हाँ, हम 'अनाथ' के नाम से ही पुकारी जाती थीं। जो रह जातीं वे बहुत ही रोतीं-चिल्लातीं और शैतानी करती थीं। पर मैं सबको छोड़कर, किताब हाथ में लिये, मदरसे के धूलि-धूसरित बग़ीचे में पहुँच जाती थी। और वहाँ किसी कोने में जमकर अपने सपनों में लीन होजाती थी।

जब मैं तेरह बरस की हुई, तो मेरी धरम की माँ की बहिन, नादेज्दा-इवानोवनासोत्ज़, फर्स्ट हाईस्कूल की प्रिन्सिपाल नियुक्त की गईं। वह बोर्डिङ्गस्कूल से मुझे अपने यहाँ लिवा लेगईं। बोर्डिङ्ग स्कूल में पढ़ाई-लिखाई तो सब माशा-अल्लाह ही थी। इसलिए हाईस्कूल में मुझे चौथे दर्जे में भर्ती किया गया। आगे की मेरी पढ़ाई उसी स्कूल में हुई।

एकबार गर्मियों की बात है। मैं तेरह बरस की थी और पाँचवें दर्जे में गई ही थी कि सीमा मौसी हम बच्चों को देहात में अपनी छोटी-सी जागीर पर ले गईं। उनकी वह जागीर ओरेल के प्रान्त में थी। असल में वह एक छोटा-सा गाँव था। गाँव की गलियों में किसानों के बच्चे निश्चिन्त होकर खेला करते थे। उनमें से कुछ तो उमर में मेरे

बराबर थे लेकिन सबके सब निरक्षर थे। गाँव में स्कूल भी नहीं था। मैंने उन्हें पढ़ाने का निश्चय किया। सेराफिमा से इस सम्बन्ध में बातचीत की और सदा की भाँति इसबार भी, उसने मेरा समर्थन किया। सीमा मौसी की स्वीकृति भी उसीने प्राप्त की। मैं बच्चों को जमा कर जङ्गल में ले जाती और वहाँ उन्हें तोल्स्तोय प्रणाली से वर्णमाला सिखलाने लगी। शरदऋतु आनेतक सबके सब बालक साक्षर होगये। वे किताब पढ़ लेते थे, सौतक गिन सकते थे और सिण्डेरेला की मेरी प्यारी कहानी मुखाग्र सुना सकते थे।

जब मैं पन्द्रह बरस की हुई तो घर में एक नई नौकरानी आई। उसका नाम वार्या था। एकदिन वह सीमा मौसी का सोने का कमरा झाड़ रही थी कि उसे तह किया हुआ एक भारी और सख्त कागज़ मिला। वार्या पढ़ सकती थी; और, वह उन लोगों में से थी जिनके पेट में बात मिनटभर भी नहीं रह सकती। फिर, यह तो बड़ी ही अनोखी बात थी!

'मिस नटालिया! नटालिया अलेक्ज़ेन्ड्रोवना!' वह हाँफती हुई कमरे में दौड़ी आई।

'देखो, यह क्या है? अरी आभागी लड़की!' उसने वह कागज़ मेरे हाथ में थमा दिया। और, वह फूट-फूट कर रोने लगी।

'वार्या! अरी चुड़ैल, तू यह क्या कर रही है!' सेराफिमा ने वह कागज़ देखकर चिल्लाते हुए कहा।

लेकिन अब तो काफी देर होगई थी। मैंने वह कागज़ पढ़ लिया था। वह मेरे ही जन्म का प्रमाण-पत्र था। उसमें साफ लिखा था कि सन् १८७८ की फलाँ-फलाँ तारीख को, बेवा सेराफिमा (यही सीमा मौसी का पूरा नाम था) ने नटालिया नाम की एक दोगली कन्या को जन्म दिया, जिसके बाप का पता नहीं था।

मैंने वह कागज़ चुपचाप वार्या को लौटा दिया। मैं उठकर खिड़की पर जा बैठी। सीमा मौसी का घर उसी सूखे बगीचे से घिरा हुआ था।

'मौसी? लेकिन वही सीमा मौसी मेरी माँ थी।'

मैं घन्टों बैठी एक ही शब्द को बार-बार दुहराती रही :

'माँ...माँ...माँ...'

मैं अभीतक इस शब्द से अपरिचित थी। लेकिन आज जब परिचित हुई तब भी उस शब्द का मेल सीमा मौसी के व्यक्तित्व के साथ नहीं बैठ रहा था। काश 'माकोशा' मेरी माँ होतीं; या सेराफिमा या जूलिया मौसी ही मेरी माँ होतीं...लेकिन सीमा मौसी? और, मुझे रह-रहकर याद आने लगा कि जब कभी हमारे घर मेहमान आते थे तो मेरी 'माँ' उनसे मेरा परिचय कराते समय कहती थी :

'यह हमारी भान्जी है।'

मेरिन्स्कीइन्स्टीटयूट से अपना निकाला जाना मुझे याद आया; और याद आया कि घर की सार-सँभाल करनेवाली नौकरानी इकातेरिनाकुज़मिनिश्ना जब सबेरे हम बच्चों को मदरसे भेजती थी तो किसतरह चुराकर मेरे झोले में मीठी रोटियाँ रख देती थी! वह अवश्य ही जानती रही होगी कि मैं दोगली सन्तान हूँ!

क्षणभर में मेरा जीवन इतना नीरस और बे मजा होगया कि उस घर में एक मिनिट भी ठहरना मेरे लिये भारी हो पड़ा।

अभीतक मैं यह मानती थी कि सीमा मौसी ने मित्रता के कारण मेरे पालन-पोषण का भार अपने ऊपर ले रखा है; और मैं इसके लिये उनकी कृतज्ञ थी। लेकिन अब सबकुछ बदल गया था।

सेराफिमा को एक ओर धकेलकर मैं वार्या की ओर झपटी।

'वह कागज़...कहाँ है ?' मैंने उसकी ओर देखे बिना ही पूछा।

वार्या डर गई थी और उसने बिना कुछ कहे, यन्त्रवत्, अपने आँचल से उस सत्यानाशी कागज़ को निकाला।

'लाओ, मुझे देदो।'

उसने मुझे वह प्रमाण-पत्र देदिया।

'मैं घण्टेभर में लौटा दूँगी।'

मैंने मिशा से मिलना तै किया। उनदिनों वह कालेज में पढ़ता था और स्वावलम्बी होगया था।

मुझे वह अकेला ही मिल गया।

'मिशा, यह क्या है ?'

उसने बिना किसी उतावलेपन के कागज़ की घड़ी खोली और बोला :

'यह तुम्हारे जन्म का प्रमाण-पत्र है।'

'और, क्या तुम्हारा जन्म-पत्र भी ऐसा ही है ?'

'हाँ।'

'इसका मतलब यह है कि सीमा मौसी हमारी माँ हुई ?'

'हाँ।'

'तुमने मुझे बतलाया क्यों नहीं ?'

'मैंने सोचा कि यह भेद तुमपर जितनी देर में प्रकट हो उतना ही अच्छा।'

क्षणभर तक निस्तब्धता रही। फिर मैं बोली :

'मिशा, मैं यहाँ से कहीं दूर चली जाना चाहती हूँ। मुझे यहाँ की हर चीज़ से घृणा होगई है।'

'कहाँ जाओगी ?' मिशा ने उदास होकर कहा। 'माञ्चोशा' मर गई हैं। मैं अभी पढ़ रहा हूँ और तुम्हारी कोई मदद नहीं कर सकता।

'नहीं-नहीं,' मैंने उसकी बात काटते हुए कहा, 'मैं देहात में चली जाऊँगी और वहीं पढ़ाऊँगी।'

मिशा थोड़ी देरतक सोचता रहा। फिर स्वीकृति में सिर हिलाते हुए उसने कहा :

'अच्छा है, ऐसा ही करो। मेरा भी यही खयाल है कि अब यहाँ रहना तुम्हारे बस का नहीं।'

जब लौटकर माँ के घर आई तो खासा झगड़ा मच गया।

सीमा मौसी ने झिड़कते हुए कहा—बिना पूछे-ताछे कहाँ मटरगश्ती करती फिरती है ?

मैंने उसकी बात का कोई जवाब नहीं दिया और ठीक उसके सामने जा खड़ी हुई। जीवन में पहलीबार मैंने यह साहस किया था।

—'मुझे पता लग गया कि मेरे भी माँ है।' मैंने बिलकुल निरुद्वेग भाव से कहा।

यह सुनते ही वह पीली पड़ गई।

थोड़ी देरतक चुप रहने के बाद उसने कहा : 'पर...पर मैं और करती भी क्या ? तुम अब बड़ी हुई, तुम्हें समझना चाहिये।'

जीवन में पहलीबार उसका स्वर अनुनय से भरा हुआ था। लेकिन मैं अविचलित रही।

'मैं यहाँ से जारही हूँ।' मैंने अपना निश्चय प्रकट कर दिया।

थोड़े ही दिनों पहले ओरेल प्रान्त के हमारे गाँव की ग्रामसमिति की ओर से एक प्रस्ताव आया था। उस प्रस्ताव में कहा गया था कि गाँव के

निवासियों ने पाठशाला के लिए मकान बना लिया है; और जिस युवती ने दोवर्ष पूर्व गांव के बालकों को पढ़ाया था उससे प्रार्थना की गई थी कि वह आकर पाठशाला का कार्यभार सँभाले। हाईस्कूल की मेरी शिक्षा पूरी होने में अभी दो महीने की देर थी।

'मैं ओरल प्रान्त में शिक्षिका बनकर जारही हूँ।'

मेरी माँ चिल्लाने और पाँव पटकने लगी। उसकी हमेशा की शान्ति और स्थिरता जाने कहाँ चली गई थी।

वह धुआँ-फुआँ होकर बोली—तू अकृतज्ञ है, तू निर्दयी है, तू जानवर है!

इकातेरिनाकुज़मिनिश्ना उसके चढ़े हुए पारे को उतारने की कोशिश में मुर्गी की तरह नाचने लगी थी।

मुझे डराया गया कि वहाँ देहात में शहर का आराम नहीं है, मैं परिश्रम करने की अभ्यस्त नहीं हूँ; मैं बीमार पड़कर मर जाऊँगी आदि-आदि। लेकिन मैं टस से मस नहीं हुई। मैंने समय से पहले ही परीक्षा दी और देहात के लिये रवाना होगई। मैं माँ से बोली तक नहीं, खाली प्रणाम कर निकल पड़ी। लेकिन सेराफिमा ने मुझे छाती से लगा लिया और बोली—यदि कुछ होजाय तो अपनी इस बहिन को मत भुलाना...

देहाती स्कूल का मकान बिना ढङ्ग-धड़ का बनाया गया था। जब मैं पहुँची सर्दियाँ शेष थीं। रूसी-अँगीठी वाली एक छोटी-सी झोंपड़ी स्कूल की इमारत थी। उसमें एक छोटा-सा कमरा 'अध्यापिका' के रहने के लिये निकाल दिया गया था। वहाँ का यह ठाठबाट देखकर मेरा दिल बैठ गया।

लकड़ी की दीवालों पर एक उदास निगाह डालकर जब मैंने सोचा कि यहाँ अकेले रहना होगा तो मेरा सारा उत्साह ही काफूर होगया।

जो कमरा मेरे रहने के लिये बनाया गया था उसमें एक छोटा-सा बिस्तरा और पुआल की गादी थी। सामान के नामपर उसमें एक टेबल

और तिपाई भी थे। पाठशाला वाले कमरे में बिना रंग-रोगन की मेज़ और बेञ्चें थीं। और इसी सबको प्राइमरी स्कूल का नाम दे दिया गया था!

वहाँ सप्ताह में एकदिन स्थानीय पादरी इंजिल पढ़ाने आता था। एक किसान औरत कमरे को गरम रखती थी। वही औरत मेरी चाय भी बनाती और गाँव से मेरे खाने के लिये रोटी और उबले हुए अण्डे लाती थी। मैं अपना खाना ठण्डा ही खाती थी।

सुबह से दुपहर बीतेतक मैं अपने छात्रों को पढ़ाती थी। भूरे बालों वाले किसान बालक, देहाती ढंग के कोट पहिने, अपने पिताओं के फेल्ट जूते चढ़ाये झुण्ड के झुण्ड पढ़ने आते थे। उनमें से कुछ मुझे 'बाई सा'ब' और कुछ 'गुरुजी' कहते थे।

जब मुझे वहाँ एक सप्ताह होगया तो गाँव वालों ने सभा की। सभा में तै पाया गया कि अध्यापिका को तिरासी रूबल वार्षिक तनखा दीजाय, गड़रियोंसहित सारा गाँव बारी-बारी से अध्यापिका को खाना खिलाये और ग्रामपंचायत की ओर से अध्यापिका को एक जोड़ा फेल्ट जूते दिये जायें। सभा में एक प्रस्ताव यह भी पास हुआ कि सारा गाँव मिलकर बारी-बारी से मदरसे की इमारत को गरम करे।

गाँववाले मुझे खिलाने-पिलाने में किसीतरह की कोताही नहीं करते थे। लेकिन मास्को में मैं जिसतरह का आरामदेह जीवन बिताती रही थी उसके मुकाबले वहाँ की गोभी की रसेदार भाजी, दलिया और पुआल का गद्दा फीका मालूम पड़ता था।

तीन ही सप्ताहों में मैं बीमार पड़ गई। मुझे जुकाम होगया था। मेरे छात्रों ने सारे गाँव में खबर करदी और वह उड़ती हुई गाँव के कोने पर स्थित आबकारी में भी जा पहुँची। वहाँ का मैनेजर मुझे देखने आया। मुझ जैसी जवान छोकड़ी को अध्यापिका के रूप में देखने की तो उसने सपने में भी आशा नहीं की थी।

उसने बार-बार और सन्देहपूर्वक मुझसे पूछा—क्या सचमुच तुम्हीं अध्यापिका हो ?

मैनेजर के छह बच्चे थे, जिनकी उम्र दो साल से लेकर बारह साल के बीच थी।

उसने मुझे रविवार के दिन खाने पर बुलाया, जिसे मैंने स्वीकार कर लिया।

खाना खाते समय मेरे मेजवान ने डरते-डरते मुझसे पूछा कि क्या मैं उसके चार बड़े बच्चों को पढ़ाना पसन्द करूँगी ? मेहनताने में उसने पच्चीस रूबल मासिक और खाने का प्रस्ताव किया। उसका घर स्कूल से अधिक दूर नहीं था। इसलिए मैंने स्वीकार कर लिया। दुपहर बाद स्कूल छूटने पर मैं मैनेजर के बच्चों को पढ़ाती थी।

थोड़े ही दिनों में अपने बच्चों की प्रगति देखकर मैनेजर बड़ा खुश हुआ और उसने आबकारी मालिक के एक खाली मकान में मुझे रहने के लिए कमरा दे दिया। अब मैं दो बड़े बच्चों को तो स्कूल ले जाती थी और दो छोटों को घर पर ही पढ़ाती थी।

गर्मियाँ आते ही छुट्टियाँ शुरू होगईं। अब मैं एकतरह से खाली थी। घर में एक पियानो भी था। और मुझे मन ही मन लगता कि सिर्फ पढ़ाने के लिए पच्चीस रूबल, दोनों वक्त खाना और हवेली में मुफ्त कमरा बहुत ज्यादा होता है; इसलिए मैं मैनेजर के बच्चों को जितना कुछ इल्म जानती थी, सिखलाने लगी।

मैंने उन्हें पियानो बजाना, बुनाई करना, किरोशे का काम, जालीकाटना और जर्मन तथा फ्रेन्च भाषाएं बोलना भी सिखला दिया।

कभी-कभी मैं स्कूल के अपने छात्रों और मनेजर के बच्चों को लेकर जङ्गलों में चली जाती थी। वहाँ हम कुकुरमुत्ते और झरबेरियां इकट्ठा

करते थे। मेरे विद्यार्थी मुझे घेरकर बैठ जाते थे और मैं उन्हें कहानियाँ सुनाती और गाना सिखलाती थी।

किसानों के लिए मेरा इतना परिश्रम एक अनबूझ पहेली के समान था और वह अकसर कहते थे :

'बाई सा'ब, आप इन छोकड़ों के पीछे अपना इतना वक्त क्यों बर्बाद करती हैं ?

लेकिन इस उलहने के नीचे उनके स्नेह और कृतज्ञता का जो समुद्र उमड़ा पड़ता था उसे भी मैं देख पाती थी।

शरदऋतु आते ही स्कूल खुल गया। इसबार स्कूल की इमारत सफेदे से पोती गई और फर्श धो-रगड़कर साफ किया गया। मेरे रहने के उस कमरे में जो मदरसे की इमारत में था, एक बुढ़िया आगई थी। वही पाठशाला की सफाई करती और अँगीठी को गरम रखती थी। गांव के किसान अब मुझसे थोड़ा हिल गये थे; इसलिए एकदिन एक माता बड़ी-सी छड़ी लेकर आई और सीख देती हुई बोली—

'इन लौण्डों को इतना इतराना ठीक नहीं। इन्हें तो ठोकते-पीटते ही रहना चाहिये। मसल मशहूर है कि छड़ियाँ बाजें छम-छम, विद्या आवे धम-धम। कहीं छुटपन के कारण तुम झेंपती तो नहीं हो ?'

और उसने वह छड़ी दरवाज़े में लटका दी। पर जब मैंने उससे वह छड़ी ले जाने के लिए कहा तो उसकी सूरत देखने काबिल होगई। बेचारी के अचरज का पार नहीं रह गया था।

कभी-जभी स्कूल की छुट्टी के बाद शाम के समय, जब बुढ़िया अँगीठी दहका देती, मैं अपने विद्यार्थियों को लेकर बैठ जाती और उन्हें हेन्सएण्डरसन, पुश्किन, ग्रीम्स की परीकथाएँ आदि पढ़कर सुनाती थी। वे सबकुछ कितनी उत्सुकता के साथ सुनते थे ? इन कथा-कहानियों के बदले में वे मुझे बर्फ़ पर फिस-

लने के लिये न्यौता देते और अपनी फिसलन-गाड़ियों पर बैठाते थे। वे मुझसे इतने खुश थे कि उन्होंने मेरे लिये टोकरीनुमा एक फिसलनगाड़ी भी बना दी थी। लट्टू की तरह घूमती और पहाड़ से नीचे आती उस टोकरी में फिसलने में कितना मज़ा आता था? मेरा सिर चकराने लगता और ऊपर की साँस ऊपर और नीचे की नीचे रहजाती थी। सच ही, बड़ा मज़ा आता था!

जब मई का महीना लगा, मुझसे कहा गया कि तुम्हें अपने विद्यार्थियों को परीक्षा के लिए जिला-स्कूल ले जाना पड़ेगा। नहा-धोकर और नये कपड़े पहिनकर जब हम दो गाड़ियों में जिला-स्कूल के लिये रवाना हुए तो मारे उत्तेजना के मेरी छाती धड़कने लगी थी।

जिला-स्कूल में मेरे छात्रों की कड़ी परीक्षा ली गई। लेकिन सब के सब अच्छे नम्बरों से पास हुए और उनके बोलने तथा उत्तर देने के ढङ्ग और उनकी प्रतिभा की सबपर गहरी छाप पड़ी। जिले के सब शिक्षकों को बड़ा आश्चर्य हुआ। उनमें से कइयों ने मुझे बाद में कहा कि यदि प्राइ-मरी स्कूलों के विद्यार्थियों की प्रतियोगिता होती तो मेरे हर विद्यार्थी को पारितोषिक मिलता!

जब साल पूरा होगया तो तुलाप्रान्त के एक सरकारी स्कूल में पढ़ाने का प्रस्ताव मेरे सामने शिक्षाविभाग की ओर से पेश किया गया। मैं न तो अपना देहाती स्कूल छोड़ना चाहती थी, न अपने विद्यार्थी और न मैनेजर का परिवार ही। लेकिन सबने मिलकर मुझे विवश किया और अन्त में मुझे स्वीकार करना पड़ा।

गर्मियाँ मैंने काशिरा के निकट शिक्षकों का बाग़वानी का कोर्स सीखने में व्यतीत कीं। आगे चलकर मुझे इससे काफी फायदा हुआ। मैं प्रकृति की प्रेमी हूँ और आजदिन तक खेती के लिये मेरे मन में वैसा ही उत्साह और लगन बनी हुई है।

तुला के स्कूल में मेरी तनखा बढ़ाकर साढ़ेसत्ताईस रूबल मासिक करदी गई। मैंने अपनी सारी तनखा अपने नये विद्यार्थियों के लिए एक 'मैजिक लैण्टर्न' खरीदने में खर्च करदी। बसन्तऋतु में मैंने और मेरे विद्यार्थियों ने स्कूल के पास एक प्रयोगात्मक बगीचा लगाया। मैं अपने छात्रों को सबकुछ सिखलाती थी। यहाँतक कि मैंने उन्हें गाना भी सिखलाया और इसके लिये सुर मिलाने का एक छोटा-सा बाजा भी हम पागये थे।

शाम के समय गाँव के युवा नर-नारी पढ़ने आते थे। उनके पाठ्यक्रम में इतिहास, भूगोल और महिलाओं के लिए सुई-किरोशे का समावेश भी किया गया था।

लगता था कि सबकुछ इसीतरह चलता रहेगा। लेकिन एकदिन गाँव में एक सिपाही आधमका और पूछ-ताछ करने लगा :

'ये जवान लोग स्कूल में काहे को आते हैं? तुम उन्हें क्या खुराफातें सिखलाती हो?

— तफतीश के लिए मैं तुला बुलाई गई। स्कूल बन्द कर दिया गया और दोदिन तक उसके दरवाजे में पुलिस का ताला पड़ा रहा। गाँव में बिजली की तरह खबर फैल गई कि अध्यापिका गिरफ्तार की गई है। तुला से बड़े-बड़े अफ़सर गाँव में जाँच करने के लिए पहुँचे। सरपंच और किसानों से जिरह की गई। मेरी हर चीज़ की बड़ी बारीक़ी से तलाशी लीगई। लेकिन उन्हें कुछ भी आपत्तिजनक नहीं मिला और बेचारों को मुँह की खाकर मुझे रिहा करना पड़ा।

बसन्तऋतु में तुला से परीक्षक लोग आये।

उन्होंने फ्रेन्च जबान में मेरे काम की तारीफ की। वे लोग बार-बार इतनी प्रशंसा कर रहे थे कि अपनी सफलता की खुशी में मैं चाहकर भी, अपनी मुस्कराहट को रोक न सकी। परीक्षकों ने इसे देख लिया और पूछा :

'क्या तुम फ्रेन्च भी जानती हो ?'

और जब उन्हें मालूम हुआ कि मैं फ्रेन्च, जर्मन और अंग्रेज़ी भी जानती हूँ तो उन्होंने ग्रीष्मावकाश के लिए एक परिवार में मुझे गवर्नेस का काम दिलवा दिया। जो लड़की मुझे सौंपी गई थी वह बे माँ की थी और उसका पिता कारतूसों के एक कारखाने में डाक्टर था।

वहाँ मैं घन्टों के हिसाब से नियुक्त की गई थी और मुझे सवेरे आठ बजे से लेकर रात में आठ बजेतक, पूरे आठ घन्टे, काम करना पड़ता था। तुला में आते ही मैंने जो कमरा किराये से लिया वह बहुत ही छोटा और सीलनवाला था। इस कमरे ने तो मेरा सर्वनाश ही कर दिया मुझे खाँसी होगई, फिर निमोनिया हुआ, कईदिन तक उसमें पड़ी रही और अन्त में क्षय की शिकार होगई।

मेरी छात्रा के पितासहित सभी डाक्टरों ने एक स्वर में आदेश दिया :

'फौरन क्रीमिया जाओ।'

मुझे रुपयों की आवश्यकता थी, मेरी शोचनीय दशा देखकर मुझे दो-सौ रूबल उधार दे दिये।

मेरी लम्बी बीमारी और शोचनीय आर्थिकस्थिति तथा कर्ज चुकाने के लिए मुझे जो परिश्रम करना पड़ा उस सबने मुझे बाध्य किया कि मैं स्कूल में पढ़ाने के काम से सदा के लिए छुट्टी ले लूँ।

इस निर्णय के बाद मैं रुज़निकोफ परिवार में गवर्नेस बनकर गई। इस परिवार का मुखिया मेज़ेन का व्यापारी था। मेज़ेन में उनकी लकड़ी के आरों की मिल थी। वे लोग बहुत ही अमीर, अज्ञानी और गँवार थे।

उनके यहाँ चुँगीविभाग के अफ़सरों का आना-जाना अकसर लगा रहता था। ऐसा लगता था कि चुँगी के अफ़सरों और उनकी चुँगी चुराने

में साठ-गाँठ थी। भोजन के समय खुलकर शराब के दौर चलते थे और गृहस्वामी पीता-पीता बेसुध होजाता था। मेरी छात्रा, जो पन्द्रह बरस की मोटी-ताज़ी कुमारी थी, पाँव पटककर अपने बाप पर चिल्लाती थी:

'अबे उल्लू के पट्ठे, जा, सो जा!'

खाने के बाद गृहस्वामिनी अपने कमरे में चली जाती थीं। घर के लोग उस कमरे को आदरसहित 'सेलून' के नाम से पुकारते थे। कमरे के बीचोंबीच एक झूलाकुर्सी थी। गृहस्वामिनी बड़े ही बेहूदे ढङ्ग से उसमें पड़ जाती। एक नौकरानी आकर धीरे-धीरे और बड़े ही अनोखे ढङ्ग से सेठानी के पाँव के अँगूठे थपथपाने लगती थी। इसे 'मालिश' का नाम दिया गया था। उससमय मेरा काम ग्रामोफोन बजाने का होता। तलुओं की हलकी मालिश, किसी गायिका का गीत या बाजे की कोई गत सेठानी को उँघा देते थे। जैसे ही वह खर्राटे भरने लगती मैं और नौकरानी' साँस रोके, अँगूठों के बल कमरे से बाहर निकल आती थीं। इसी-समय से मैं ग्रामोफोन से घृणा करने लगी और वह घृणा जीवनभर के लिए बद्धमूल होगई।

लेकिन इसके विपरीत मेज़ेन में ही मैंने सर्वप्रथम उत्तरी प्रकाश (छह महीने का दिन और छह महीने की रात) को देखा और वहाँ की उजली रातों ने मुझे मन्त्रमुग्ध बना लिया।

मैं ज्यादा से ज्यादा समय अपनी छात्रा के साथ बिताने की कोशिश करती थी। एकदिन की बात है। हमने गोगोल की कहानी 'दिकाङ्का के समीपस्थ खेतपर एक शाम' पढ़ना शुरू किया ही था कि गृहस्वामिनी आपहुँची। थोड़ी देरतक सुनने के बाद उसने चिढ़े हुए स्वर में पूछा:

'क्या विदेशी लेखकों के बिना तुम्हारा काम चल ही नहीं सकता?'

मैंने उसे बहुतेरा समझाने की कोशिश की कि गोगोल विदेशी नहीं रूसी लेखक है; लेकिन वह किसी भी शर्त पर मानने को तैयार नहीं थी।

उलटे उसने मुझे सलाह दी :

'अच्छा हो कि तुम लोग घुड़सवारी करो। हमारी रानी की किस्मत तो सिकन्दर है। दोलाख का दहेज तै होचुका है। उसे किताबों से माथा मारने की ज़रूरत ही क्या है?'

'घुड़सवारी से मतलब यह था कि मकान के चारों ओर बने हुए सँकरे रास्ते पर चकरघिन्नी की तरह घुमा जाय। मैं उस गोल सँकरे रास्ते, और टट्टू से भी उतनी ही नफ़रत करती थी जितना कि ग्रामोफोन से।

उनदिनों मेज़ेन में कोई स्कूल नहीं था। कभी-कभी मैं और मेरी छात्रा जङ्गल में झर-बेरियाँ तोड़ने के लिए चली जाती थीं। हमारे पीछे लगे मज़दूरों के बच्चे भी आजाते थे। उनमें एक भी पढ़ा-लिखा नहीं था। जब मैं किसी चीड़ के नीचे किताब लेकर बैठ जाती तो वे वृक्षों की ओट से नन्हीं-नन्हीं परियों की तरह झाँकने लगते। और, जब मैं ज़ोर से पढ़ने लगती तो उनकी चमकती हुई आँखें मुझपर गड़ जाती थीं।

अन्त में मैंने कह-सुनकर अपने सेठ को इस बात के लिए राज़ी कर लिया कि वह मुझे मज़दूरों के बालकों को पढ़ाने दे। बड़े सवेरे, जब सेठ का परिवार सोया रहता, मैं उन बालकों को पढ़ाती थी। हमारी क्लास पाँच-साढ़ेपाँच बजे सवेरे शुरू होती थी, फिर भी मेरा एक भी विद्यार्थी कभी देर से नहीं आया।

रुज़निकोफ परिवार में मुझे वेतन अच्छा मिलता था। व्यवहार भी बुरा नहीं था। लेकिन घर का वातावरण इतना गन्दा था कि मैं ज्यादा दिन बर्दाश्त न कर सकी और १९०६ के अन्त में मेज़ेन को प्रणाम कर अपने भाई के पास मास्को चली आई।

मिशा ने विश्वविद्यालय की परीक्षा पास कर विवाह कर लिया था। उनदिनों वह एक स्कूल में पढ़ा रहा था और साथ ही सहायक-अध्यापक

की परीक्षा की तैयारियाँ भी कर रहा था। उसने बड़ी जिन्दादिली से मेरा स्वागत किया, लेकिन मैं उससे कोई मदद नहीं लेना चाहती थी।

सेराफिमा भी मुझे देखकर बहुत खुश हुई। मेरे घर से चले जाने के बाद उसने विवाह कर लिया था, लेकिन वह एक असफल विवाह था। हाल ही में उसने तलाक़ के लिये अर्जी दी थी और उसके परिणाम से पूर्व ही फैसले का रास्ता देखे बिना ही अपने प्रेमी के साथ विदेश जाने की तैयारियाँ कर रही थी। उसने मुझे भी साथ चलने के लिए कहा। लेकिन हम दोनों के रास्ते इतने अलग-अलग होगये थे कि उसके साथ जाने की बात भी मेरी कल्पना में नहीं आसकती थी।

अपने भविष्य के सम्बन्ध में मैंने मिशा से सलाह-मशविरा किया।

मिशा ने सलाह दी :

'किसी दफ्तर में काम पाने की कोशिश करो। तुम्हारी भाषाओं की जानकारी वहाँ काम आसकती है। विदेशों के साथ पत्र-व्यवहार तो तुम कर ही सकती हो।'

उसकी यह राय मुझे जँच गई।

और, अगले तीन-चार सालों में मैंने कौन-सा काम नहीं किया ? मास्टरी की, दफ्तर में कारकूनी की, भाषण दिये और दाई का काम भी किया... अखबारों में हरतरह के विज्ञापन निकलते रहते थे। उनमें से एक विज्ञापन ने विशेषरूप से मेरा ध्यान आकर्षित किया :

'साठ मासिक वेतन पर न्यूयार्क इन्स्टीटयूट आफ लर्निङ्ग के लिए एक दक्ष युवती की आवश्यकता है।'

इस कम्पनी के सम्बन्ध में बिना किसीतरह की जानकारी प्राप्त किये मैंने अपना आवेदन-पत्र भेज दिया और वह मंजूर भी कर लिया गया। शुरू के

कुछ दिन तो काफी व्यस्त बीते। दफ्तर में रूस के कोने-कोने से हज़ारों चिट्ठियाँ आती थीं। हर चिट्ठी के साथ पचहत्तर कोपेक के डाक टिकट भी रहते थे। मेरा काम, बदले में, 'आन्तरिक शक्ति' नामक एक मूर्खतापूर्ण पर्चा भेज देना था। चिट्ठी-पत्री का काम मैंने इतनी दक्षता से सँभाला कि शीघ्र ही मेरे वेतन में वृद्धि कर दी गई।

लेकिन मुझे किसीतरह उस कम्पनी की असलियत का पता चल गया। कुछ चलते-पुर्जे ठगों ने भोले-भाले नागरिकों को झाँसा देने के लिये वह तितिम्बा खड़ा कर रखा था। सीधे-सरल लोग उनकी 'आकर्षण विद्या' और 'करामाती अंजन' के विज्ञापन के चक्कर में फँस जाते थे। जैसे ही मुझे इस धोखाधड़ी का पता लगा मैंने वहाँ से काम छोड़ दिया।

उसके बाद मैं बिटकोव के हथियारों के कारखाने के दफ्तर में लग गई। काम तो बड़ा मनहूस पर ईमानदारी का था। यदि १६११ में मेरी भेंट डेविड इवानोविचफ्लौमर से न होगई होती तो पता नहीं मेरे जीवन का यह क्रम कितने दिनों और चलता रहता। डेविड एक आटे की मिल में टेकनिकल इंजीनियर थे। जिस चाल में मेरा भाई मिशा रहता था वहीं डेविड भी रहते थे।

हम दोनों की शादी होगई।

विवाह के एकवर्ष बाद डाक्टरों ने यह अशुभ निर्णय दिया कि मैं माता नहीं बन सकती। और, तब हमने मेरे पति की पंचवर्षीया भतीजी फ्लेरोच्का को गोद लिया। फ्लेरोच्का बारह बच्चों के परिवार में सबसे छोटी बालिका थी।

फ्लेरोच्का हमारे साथ सातसाल तक रही। उन्हीं दिनों हमने अपनी नौकरानी की लड़की निउषा को भी पाला-पोसा। निउषा भी फ्लेरोच्का की ही हमउम्र थी।

पहले महायुद्ध के समय डेविड इवानोविच की बदली सारातोव की एक आटे की मिल में होगई। वे दिन बड़े ही संकटपूर्ण थे। और १६१८ में हमारी फ्लेरोच्का सारातोव में ही मोतीजरे में मर गई।

उधर फ्लेरोच्का की बीमारी के कुछ दिन पहले, निउषा की माँ, आसन्न अकाल से घबराकर अपनी बेटी को लेकर अपने गाँव चली गई। इस-तरह हमारी दोनों लड़कियाँ, एक ही साथ हमसे छिन गईं। फिर निउषा से तो हमारी भेंट बीस साल बाद बड़ी ही विचित्र परिस्थितियों में हुई। लेकिन उस सम्बन्ध में आगे कहूँगी।

दूसरा परिच्छेद

फ्लेरोच्का को मरे एकसाल होगया था। जब वह मरी मैं स्वयं मोतीझरे में बेहोश पड़ी थी और मुझे सन्निपात भी होगया था। जब संकट टल गया और मैं होश में आई तो मेरा पहला प्रश्न फ्लेरोच्का के सम्बन्ध में था।

'फ्लेरोच्का कहां है?'

डेविड इवानोविच ने मुझे आश्वासन-सा देते हुए कहा :

'उसे उसके माता-पिता के पास भेज दिया है।'

'क्यों? किस मतलब से?' मैं उत्तेजित होगई।

मेरे पति ने जवाब दिया :

'तुम तो बीमार पड़ गईं। उसकी देखभाल कौन करता? इसलिए मैंने यही उचित समझा कि उसे थोड़े समय के लिये अपने मां-बाप के पास भेज दिया जाय।'

और, पूरे छह महीने होजाने के बाद तब कहीं उन्होंने उसके मरने की बात मुझपर प्रकट की।

मालूम होते ही मैं फूट-फूटकर रोई। मेरा निश्चित विश्वास था कि यदि मुझे उसकी सेवा-टहल करने का अवसर मिलता तो उसे अवश्य बचा-

लेती। जितना ही यह विचार मेरे मस्तिष्क में आता था मेरे छाती फटने लगती थी! अब सारा मकान ही सूना लगता और काटने को दौड़ता था।

फ्लेरोच्का को अपनी बेटी समझने का साहस मुझमें कभी नहीं हुआ था। वह भी हमें चाचा-चाची कहती थी। अकसर हम उसके परिवार की बातें किया करते थे। फिर भी उसके लालन-पालन में मेरे मातृत्व का परितोष होता था। मेरे पति भी ऐसा ही अनुभव करते थे। अब, उसकी मृत्यु के बाद, हमारा सारा जीवन ही निरर्थक और आत्मकेन्द्रित-सा होगया था।

अकेलापन इसलिए और भी दूभर होगया था कि जिला अन्नसमिति में, जहाँ मैं उनदिनों काम करती थी, एक तो विशेष काम नहीं था, दूसरे काम के घण्टे भी कम थे।

फ्लेरोच्का की पहली बरसी १६१६ की १८वीं अक्तूबर को पड़ती थी। उसदिन जब मेरे पति सदा की भाँति काम पर चले गये तो मेरे मन में फ्लेरोच्का की समाधि पर जाने की अभिलाषा एकाएक तीव्र होउठी। अन्नसमिति में अपना काम निपटाकर मैं दुपहर के समय उधर जाने को निकली।

शरदऋतु थी और बूँदा-बाँदी होरही थी। मेरी चमड़े की जाकिट भीग गयी थी और मेरे साये पर होकर पानी की धाराएँ बहने लगी थीं। मेरे पांव बिलकुल तर होगये थे। रात से होरही बूँदा-बाँदी ने अब मूसलधार वर्षा का रूप ले लिया था। पानी से बचने के लिए मैं पास के छायादार बाज़ार की ओर मुड़ी। बाज़ार के प्रवेशद्वार पर तानपूरा लिये दाढ़ीवाला एक लम्ब-तड़ङ्ग अन्धा भिखारी खड़ा था। उसके गन्दे देहाती कोट का खूँट पकड़े तीनबरस का एक लड़का भी उसके साथ था, जो उससमय ठुनक रहा था। रंग-ढङ्ग से वह बालक उस अन्धे का पथ-प्रदर्शक मालूम पड़ता था। मैं दोनों को ध्यान से देखने लगी।

बाज़ार से निकलकर अन्धे ने सड़क पार की और सामने की एक होटल में घुसा। बच्चा भी उसके साथ घिसटता चला गया। होटल के अन्दर से शराबियों का उन्मत्त स्वर सुनाई देरहा था। सड़क-पार जाकर मैंने होटल के अन्दर झाँका। बच्चा अब भी ठुनक रहा था। अन्धे ने मूँगफली और 'बीयर' (एक तरह की शराब) के दो ग्लास मँगवाये। मूँगफली तो उसने बच्चे को देदी, जिसे पाकर बच्चा चुप होगया। अन्धे ने एक ही साँस में दोनो ग्लास खाली कर दिये और इत्मिनान से अपनी डाढ़ी और मूछों को पोंछकर उठ खड़ा हुआ। बालक, सबओर से बेखबर, मूँगफलियों में तल्लीन था। अन्धे ने डपटकर उसे पुकारा। बालक घबराकर खड़ा होगया। दोनों होटल से बाहर निकले। पानी अभी भी वैसा ही बरस रहा था। अन्धे ने अपना कमर-बन्द कसा और फुटपाथ पर खड़े होकर तानपूरा बजाने और गाने लगा। जब गाना पूरा होगया तो उसने लड़के को धक्का दिया-जा, माँग।

लड़का काँपती हुई आवाज़ में माँगने लगा—भगवान के नामपर अन्धे-मुहताज को पाई पैसा देना बाबा!

सड़कपर जो इक्के-दुक्के लोग आ जा रहे थे, वे बच्चे की ओर कोई भी ध्यान दिये बिना तेज़ी से निकल गये।

लड़का खाली हाथ लौट आया। इसपर अन्धे ने कसकर उसके एक थप्पड़ जमाया। फिर वे तेज़ी से सड़क पर आगे बढ़े। अन्धा अपनी लाठी से गीले फुटपाथ को टटोलता जारहा था।

मैं भी उनके पीछे हो ली। बारिश कुछ धीमी होगई थी और लोग-बाग निकलने लगे थे। कुछ औरतों ने अन्धे की पुकार सुनी और उसे पैसे दिये। उसने उन पैसों को बड़ी चतुराई से अपनी टोपी के अस्तर में छिपा लिया।

मैं उनके पीछे लगी सारे शहर में घूमी। मेरे मन में यह सन्देह घर कर गया था कि वह बालक अन्धे का अपना नहीं है; पर, मैं इस बात का निश्चय कर लेना चाहती थी।

पाँच बजेतक हम सोकोलोवस्काया पहाड़ी पहुँचे। वह सारातोव का सबसे ग़रीब और गन्दा मुहल्ला था। बूढ़े भिखारी ने एक आँगन में प्रवेश किया; और, एक दुमंजिले गन्दे मकान के तहखाने में चला गया। उसने तहखाने के दरवाज़े में ताला नहीं लगाया था। मैंने धीरे से किवाड़ खोले। अन्दर से सीलन की सड़ी बदबू आरही थी। दीवालें काँजी से ढँकी थीं। फ़र्शपर गन्दे चिथड़े फैले थे।

लड़का फिर ठुनकने लगा था—ऊँ...ऊँ...मुझे नींद...नींद...

अन्धे ने उसे ज़ोर से डाँटा। वह बेचारा भूखा और भीगा हुआ बालक चिथड़ों पर ही लुढ़क गया और पड़ते ही खर्राटे लेने लगा।

मैं तहखाने के दरवाज़े में खड़ी थी। तहखाने में एक ही खिड़की थी। उस खिड़की के पल्ले में लगे गन्दे शीशे पर होकर पानी की धाराएं बह रही थीं। अन्धा भिखारी भी धम्म से फ़र्श पर बैठ गया। फिर उसने अपनी टोपी उतारी। अस्तर उलटकर उसने पैसे निकाले और टटोल टटोलकर उन्हें गिनने लगा। मैं निःशब्द वहाँ से हट गई और मकानमालिक की तलाश में चली। एक औरत आँगन में कुछ कर रही थी। मैंने उससे पूछा :

'यह किसका मकान है?'

'मेरा।' उसने बड़ी ढिटाई से अपना सिर उठाये बग़ैर ही जवाब दिया।

'और अन्धे के साथ जो बचा है वह? वह किसका है?'

इसबार औरत ने सिर उठाकर मेरी ओर देखा। उसकी आँखों में गहरा सन्देह व्याप्त होरहा था। वह बोली :

'तुमसे मतलब ?'

'सो तुम्हें बाद में मालूम होगा। पहले मेरी बात का जवाब दो!' मैंने दृढ़तापूर्वक कहा।

मेरी चमड़े की जाकिट से वह औरत निश्चय ही धौंस खागई और उसने सब बातें उगल दीं। उसकी लम्बी और पेचीदा बातों से मैं इतना जान सकी कि तहखाना भिखारियों के रहने की जगह था। तीनसाल पहले एक भिखारिन ने उस बालक को जन्म दिया था। वह भिखारिन हाल ही में मोतीजरे से मर गई थी। बच्चा अकेला रह गया था और अन्धे भिखारी ने उसे अपने अधिकार में कर लिया था। उस औरत ने रुआँसी आवाज़ में कहा :

'बाई साहब, कहीं मेरी 'रपट' मत कर देना। कायदे से तो मुझे पुलिस को औरत के मरने और बच्चे के अनाथ होने की सूचना देनी चाहिये थी; परन्तु मैं किसी वजह से वैसा न कर सकी...'

मैंने उस डरी और घबराई हुई मकानमालकिन को हुक्म दिया : 'इस बच्चे को फ़ौरन अपने कमरे में ले जाओ। मैं अभी पुलिस को लेकर आती हूँ।'

और, कोई घण्टेभर में मैं पुलिस को लेकर लौट आई। जब मैं लौटकर आई, बच्चा मकान मालकिन के कमरे में अँगीठी के पास सुखपूर्वक लेटा था। उसके कपड़े-लत्ते भी बदल दिये गये थे। पुलिस वाले ने रिपोर्ट लिख डाली।

'लड़के का नाम क्या है?'

'जी, सेरेज्का के नाम से पुकारते हैं।'

मैंने उसे धीरे से जगाया और पूछा :

'सेरेज्झा, मेरे साथ गाड़ी में घूमने चलोगे ?'

उसने विश्वासपूर्वक मेरी ओर देखा और कहा—हाँ।

सबकुछ इतना जल्दी और इतने अप्रत्याशित रूप में होगया था कि मुझे कुछ सोचने का अवसर ही नहीं मिला था। अब गाड़ी में बैठने के बाद कहीं मुझे वक्त मिला और मैं निश्चिन्त होकर घटनाओं पर विचार करने लगी। लेकिन अब भी मेरे विचारों में सुसम्बद्धता नहीं आरही थी। तरह-तरह के असम्बद्ध विचार मन में उठ रहे थे। बार-बार एकही विचार मन में उठता था कि मेरे सूने कमरे फिर से किसतरह गुलजार होजाएँगे !

अन्त में मैं घर पहुँच गई। डेविड इवानोविच एक सोफ़े पर लेटे मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे।

'नटाशा, तुम कहाँ गायब होगई थी ?'

'तुम्हारे लिए बेटा लाई हूँ।'

जैसे उनके पाँव धरती पर आरहे।

'बेटा ? कहाँ से लाई हो ?'

मैं फुर्ती से सारी घटना उन्हें सुना गई। उन्होंने सारी बात अविश्वास के-से भाव से सुनी।

तुम मज़ाक कर रही हो ! किन्हीं मित्रों के यहाँ से उसे घुमाने ले आई होगी...'

लेकिन शब्दों से अधिक, स्वयं सेरेज़ा की उपस्थिति ने मेरी बात की पुष्टि की।

मैंने पानी गरम कर सेरेज़ा को स्नान कराया। डेविड इवानोविच ने उसकी हजामत की। दोनो पलँगों को पास-पास भिड़ाकर हमने उसे अपने

बीच सुला लिया। इससमय वह बिलकुल ही साफ़-सुथरा और शान्त मालूम पड़ता था। ऊँघने से पहले उसने एकबार और आंखें खोलकर मेरी ओर देखा।

'सेरेज़ेङ्का, जानते हो, मैं कौन हूँ?'

'हाँ, अम्माँ!' उसने जवाब दिया।

मेरा दिल ज़ोरों से धड़कने लगा। इससे पूर्व किसीने मुझे 'माँ' कहकर नहीं पुकारा था।

'और यह तुम्हारे बाबूजी हैं!' मैंने डेविड इवानोविच की ओर, जो उसपर झुके हुए थे, इशारा कर कहा।

दूसरे दिन सवेरे वह जागते ही रोने लगा—अम्माँ-अम्माँ! बाबूजी-बाबूजी!

यों सेरेज़ा हमारा बेटा होगया।

× × ×

अब मैंने सोचा कि, आगे सुख ही सुख होगा! लेकिन ठीक वैसी बात तो नहीं थी। बच्चे को लेकर हमारे सामने कठिनाइयाँ भी आती गईं।

सेरेज़ा को हमारे यहाँ आये एक महीना होगया था। एकदिन की बात है। हमारा एक पड़ौसी मकान के आँगन में सूअर हलाल कर रहा था। वह सिर से पांवतक खून में सना था और वैसी ही दशा में सेरेज़ा से उसका सामना होगया।

'कहो जी, मेरे साथ वोल्गा में तैरने चलोगे? चलना हो तो जाकर अपनी अम्माँ से पूछ आओ...'

बात केवल मज़ाक में कही गई थी; हालांकि हमारे पड़ौसी को बच्चे के साथ इस ढङ्ग की मज़ाक नहीं करना चाहिये थी। और, सेरेज़ा उसे सही

समझ बैठा। दूसरे ही क्षण वह तेज़ी से दौड़ता हुआ अन्दर आया। उस-समय घर में मेरे पति के एक डाक्टर मित्र भी बैठे बातें कर रहे थे।

'अम्मां, क्या मैं वसिली चाचा के साथ वोल्गा नदी में तैरने जा सकता हूँ?'

'लेकिन, मेरे लाड़ले, सर्दी के दिन हैं और तुम ठिठुर जाओगे; फिर तैरने की यह मौसम भी नहीं है!' मैंने डरकर कहा।

लेकिन सेरेज़ा ने एक न सुनी। वह रोने और पांव पटकने लगा। हम उसे जितना ही समझाने की कोशिश करते, उसकी चिल्ल-पों बढ़ती जाती थी। हमने बहुतेरा समझाया कि वसिली चाचा ने केवल मज़ाक की थी लेकिन सेरेज़ा ने कोई बात न सुनी। घर में बाहरी आदमी की उप-स्थिति, कुछ कर पाने में अपनी असमर्थता और सेरेज़ा के दुराग्रह ने मुझे किंकर्तव्यविमूढ़ बना दिया था।

तभी हमारे मेहमान ने बीचबचाव किया और झट से बोले: 'अच्छाजी, तुम ठण्डे पानी में नहाना चाहते हो? तो चलो, नांद को पानी से भरो।'

मैं तो डर गई।

'जाओ, भरो नांद को।' डाक्टर ने ज़ोर देते हुए कहा और स्वयं उठकर नल खोल दिया।

सेरेज़ा चुप होगया था।

'अच्छा, तो तुम डरते हो क्यों?' डाक्टर ने सेरेज़ा को चिढ़ाते हुए कहा: 'लेकिन यह पानी तो वोल्गा के पानी के मुकाबले आधा ठण्डा भी नहीं है।'

सेरेज़ा के लिए इतनी चुनौती बहुत थी। वह कपड़े उतारकर नांद के बर्फीले पानी में कूद पड़ा। मेरा तो मारे डर के दम ही-फूल गया था।

'कहोजी, कैसा लग रहा है?' डाक्टर ने मजे में आकर पूछा।

'बहुत अच्छा। पर अब मुझे निकल आने दो। बहुत हुआ।' सेरेज़ा ने रोकर कहा। उसके दांत बजने लगे थे।

उसकी देह गुलाल की तरह सुर्ख होगई थी। उसके नन्हें-से चेहरे पर डर, पीड़ा और शेखी का एक अनोखा मिश्रण-सा दिखलाई पड़ने लगा था।

'अच्छी बात है; निकल आओ।' डाक्टर ने स्वीकृति देते हुए कहा।

हमने उसे उठाकर बाहर निकाला। उसके बदन पर शराब रगड़ी। तौलिये से पोंछकर बदन गर्माया। फिर पीने के लिये गर्म दूध दिया।

डाक्टर ने बड़ी ही नरमी से पूछा—कहोजी, अब भी वोल्गा में तैरने का इरादा है?

'जी नहीं।' सेरेज़ा ने जवाब दिया। वह पूरी तरह पराजित होगया था।

जिस कारखाने में मेरे पति काम करते थे वह हमारे घर के ठीक सामने ही था। बीच में सड़क थी और उसपर ट्राम गाड़ियां दौड़ा करती थीं। एकदिन, जब मेरे पति काम पर चले गये तो सेरेज़ा ने हठात् रोकर पूछा—पिताजी कहां हैं? मैं भी कारखाना जाऊँगा।'

'नहीं बेटा, तू कुचल जायेगा।'

'हां, हम तो जारहे हैं।'

और मुझसे हाथ छुड़ाकर सेरेज़ा झपटता हुआ बाहर निकल गया। मुझे खिड़की में खड़े देख वह और भी जोर से दौड़ने लगा। उससे बड़ी उम्र के दो लड़के ट्राम के पाटों के पास खड़े थे। सेरेज़ा रुक गया और आंखों ही आंखों से उनकी थाह लेने लगा। लेकिन उन लड़कों ने उसकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया। वे उसीतरह अपनी बातों में लगे रहे। सेरेज़ा क्षणभर के लिए ठिठका और फिर कारखाने के दरवाज़े की ओर लपक गया।

बिलकुल डरा हुआ और अपनी आंखें सिकोड़े हुए वह सीधा अपने पिता के पास दौड़ा गया। उसे निरापद देख मैंने सुख की सांस ली और खिड़की में से हट गई।

बाद में मैंने उससे पूछा:

'कहो बेटा, तुम वहांतक कैसे पहुंच गये?'

'कोई खास बात नहीं हुई। सिर्फ दो बड़े धींगरे वहां खड़े थे। मैंने एक को वह लात जमाई कि चारोंखाने चित्त जा पड़ा और मैं दौड़कर निकल गया।'

'सेरेज़ा, झूठ क्यों बोल रहे हो?'

'मैं और झूठ? बिलकुल नहीं। मैंने पहले एक को लात जमायी फिर दूसरे को।'

'सेरेज़ा!'

'हां-हां, मैंने लात जमायी, लात जमायी!' सेरेज़ा ने दोनों हाथ से अपने कान ढांप लिये और ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाने लगा।

मैंने असल बात का पता लगाने की बहुत कोशिश की लेकिन कोई सफलता नहीं मिली।

बाद में मैंने अपने भाई मिशा को यह किस्सा सुनाया। वह शिक्षा-शास्त्र का अध्यापक होगया था। उसने मुझे बतलाया कि वास्तव में सेरेज़ा ने झूठ नहीं कहा। लेकिन उसका सत्य ठीक उसी मानी में नहीं था, जिस मानी में कि हम बड़े-बूढ़े सत्य को समझा करते हैं। सेरेज़ा मन से चाहता था कि घटना ठीक वैसी ही हुई होती जैसी कि उसने कही थी। वह एक सकते की-सी दशा में ट्राम के पाटों के पास खड़ा था और मन ही मन उन धींगरों को लतियाने की पुनरावृत्ति कर रहा था। वह बेहद डर गया

था और अपने डर पर काबू पाने के लिए उसने अपने मस्तिष्क की सारी शक्तियों को इसतरह केन्द्रित कर दिया था कि बाद में कल्पना और वास्तव में भेद करना उसके लिए बिलकुल असंभव होगया था।

सेरेज़ा बचपन से ही ताज़ा दूध नहीं पचा सकता था। उन दिनों दूध बड़ा ही दुर्लभ पदार्थ था; और जैसे ही कुछ दूध मिलता मैं सबसे पहले सेरेज़ा को ही देती थी। लेकिन वह दोनों हाथों से दूध के गिलास को परे ढकेल देता और भिन्ना जाता था। यह बड़ी ही विचित्र बात थी। वैसे भोजन के मामले में मैंने उसे कभी ज़िद या नखरा करते हुए नहीं पाया था। मुझे फ्लेरोच्का की याद हो आई। वह खाने के समय अकसर शैतानी किया करती थी। वह बहुत ही धीरे-धीरे खाती थी। हम उसे मनाते और दुलारपूर्वक जल्दी करने के लिए कहते थे फिर भी कभी-कभी तो वह एक घण्टे-से भी ज्यादा समय ले लेती थी। इससे हम बड़ों को बहुत ही कष्ट होता था। जबतक उसका भोजन पूरा होता, हम बैठे-बैठे ऊब जाते थे। कई दिनों तक, उसे जल्दी खाना खिलाने की कोई तरकीब ही मुझे नहीं सूझ पड़ी। इस सम्बन्ध में मैंने एक डाक्टर से भी सलाह ली; परन्तु उस भले आदमी ने सिर्फ अपने कन्धे मटका दिये।

'तुमने उसे सिर चढ़ा लिया है, और कुछ नहीं है!'

लेकिन जब फ्लेरोच्का सात साल की हुई तो मुझे हठात् एक तरकीब सूझ गई। मैंने उससे कहा:

'देख, फ्लेरोच्का, अब तू बड़ी हुई। आज से मैं यह अलार्मघड़ी तेरे पास रखदूँगी। यह बड़ा काँटा यहाँ आते ही (मैंने उसे वक्त बता दिया था) घण्टी बजने लगेगी। यदि तबतक तू खाना पूरा कर लेगी तो तुझे इनाम मिलेगा। लेकिन यदि खाना खत्म नहीं हुआ तो फिर 'पुडिङ्ग' नहीं मिलेगा। समझ गई न?'

वह समझ गई थी।

'और न मैं तुझे जल्दी करने के लिए ही कहूँगी। तू तेरी जान।'

मैंने उसके आगे भोजन परोसा, अलार्म लगाकर घड़ी टेबल पर रखदी और बच्चाघर का दरवाज़ा खुला छोड़ बाहर चली आई। मैं दूसरे कमरे में बैठ गई और एक किताब लेकर पढ़ने का बहाना करने लगी।

पहले तो फ्लेरोच्का बड़बड़ाती रही। फिर उसने अँगुलियों पर पांच मिनिट गिने; और, तब खाना खाने लगी।

उसे खाते देख मैं थोड़ा निश्चिन्त हुई और उसकी निगरानी छोड़दी। तभी मैंने रोने की आवाज़ सुनी: पहले घुटी-घुटी सिसकियों का स्वर, और फिर फूट-फूटकर आती हुई रुलाई! मैंने झाँककर अन्दर देखा। मेरी बिटिया-रानी दोनो हाथों से मुँह में खाना ठूँसती और रोती जाती थी। उसके गालों पर आंसू की धाराएँ बह रही थीं। मुझसे बर्दाश्त न होसका। मैंने पूछा—

'मुन्नी, रोती क्यों है? क्या हुआ?'

उसने रोते और साथ ही मुँह चलाते हुए कहा—मैं तो खाये ही जारही हूँ और यह घूमता ही जारहा है.?

'क्या घूम रहा है?'

'घड़ी का कांटा।'

और फ्लेरोच्का ने ढेर-से आंसू बहा दिये।

सारा दृश्य मज़ेदार होने के साथ ही साथ अतीव करुणापूर्ण भी था। मुझे लगा कि जीवन में पहलीबार एक बालिका का समय की निर्ममगति के साथ पाला पड़ा है।

'तो रोये मत, ज़रा फुर्ती से खा।' मैंने उसे सलाह दी और बड़ी कठिनाई से अपनी हँसी रोक सकी।

'और, यदि अलार्म पहले बज गया तो क्या होगा ?'

पहले तो मैंने सोचा कि फ्लेरोच्का को अपना 'पुडिङ्ग' खोने का डर है; लेकिन तुरत ही मेरी समझ में आगया कि उसका डर 'पुडिङ्ग' खोने का नहीं वरन् गर्व खंडित होने का है ! उसे डर यह था कि कहीं कांटा न जीत जाय ।

अलार्म बजने से पहले ही उसने खाना खत्म कर दिया और इसके लिए उसे एक चाकलेट इनाम भी मिली । आगे से अलार्मघड़ी रखकर खाना खाने का उसका नियम ही बन गया और उसमें उसे सुख भी मिलने लगा । और, जैसे-जैसे, उसकी जल्दी खाना खाने की आदत पड़ती गई, घड़ी की कोई आवश्यकता भी नहीं रह गई ।

सेरेज़ा पर भी मैंने वही प्रयोग करना चाहा । वह भी दूध का गिलास लिये आधे-आधे घण्टेतक बैठा, बहानेबाजियाँ करता रहता था । आरम्भ में तो वह घड़ी के कांटे के साथ होड़ करने लगा था लेकिन बाद में उसने बिल्कुल उपेक्षा शुरू करदी और दूध से घिन करने की उसकी आदत बनी ही रही ।

मैंने भी आग्रह करना छोड़ दिया और बाद में तो मैं स्वयं इस निर्णय पर पहुँची कि खाने-पीने के सम्बन्ध में बच्चों के साथ कभी ज्यादती नहीं करनी चाहिये । इस सम्बन्ध में उन्हें स्वतंत्र छोड़ देना चाहिये । क्योंकि इस मामले में ज़बर्दस्ती करने से कुछ भी फ़ायदा नहीं होता है ।

एक बेटा पाकर मैं बहुत खुश थी । मेरा जीवन एकबार फिर भरा-पूरा और सार्थक होगया था ।

× × ×

उन्हीं दिनों की बात है मेरे पति के एक साथी, खिशेव की पत्नी का देहान्त होगया था । उसकी गोद में एक लड़की थी बालिका का नाम लेना

था, आँखें काली और बड़ी ही सुन्दर थीं। पत्नी के मरने का आघात कुछ ऐसा लगा कि खिशेव बेचारा सुध-बुध ही खो बैठा और उसकी समझ में नहीं आता था कि बालिका का लालन-पालन कैसे करे! किसी ने बतला दिया था कि हम बच्चों के बड़े शौकीन हैं इसलिए वह मेरी सलाह लेने दौड़ा आया।

लेकिन मैं उसे सलाह भी क्या देती?

उनदिनों हमारे पास तीन कमरे थे। मैंने सोचा कि हमारे समीप रहने से बेचारी बालिका को थोड़ा सुख मिलेगा और बाप के लिए भी आसान होजायगा। इसलिए मैंने एक कमरा उसे देना चाहा। खिशेव झट राज़ी होगया।

जब मैंने अपने पति को यह योजना बतलाई तो वह चिन्ता करने लगे। उनका कहना था कि दो बच्चों को लेकर मेरी परेशानी और काम का बोझा बढ़ जायगा। लेकिन मैंने उन्हें विश्वास दिला दिया कि परेशानी नहीं बढ़ेगी।

और खिशेव पिता-पुत्री रहने के लिए हमारे मकान में चले आये।

लेना बड़ी ही प्यारी, हँसमुख, फुर्तीली और गोल-मटोल बालिका थी। वह शीघ्र ही मुझसे हिल गई और मुझे भी उसकी सार-सँभाल में आनन्द आने लगा। लगता था कि जिन्दगी के दिन योंही चैन से बीत जाएँगे कि हमारा सेरेज़ा ईर्ष्यालु होउठा।

वह धरती पर पाँव पटकने और घुड़ककर कहने लगा—इसे यहाँ से ले जाओ। यह रोती और शोर मचाती है।

नये बच्चे के आगमन पर घर में थोड़ा हो-हल्ला, रोना-धोना और चीख-पुकार तो बढ़ ही जाती है और सच ही, सेरेज़ा इस सबको नापसन्द करने लगा था। लेकिन, असल में तो उसके मन में ईर्ष्या ने घर कर लिया था।

मैंने उसकी करुणा जागृत करने का प्रयत्न करते हुए कहा—देखो, यह कितनी नन्हीं-मुन्नी-सी है और बेचारी की माँ भी नहीं है !

सेरेज़ा सोच-विचार में पड़ गया।

'माँ नहीं होने से क्या मतलब है ? क्या सच ही माँ नहीं है ?' सेरेज़ा ने सचिन्त स्वर में पूछा।

'नहीं, माँ तो नहीं ही है।'

वह चुप होगया। लेकिन उसके बाद कई दिनोंतक वह लेना और उसके पलने की ओर सन्देहात्मक दृष्टि से देखा करता था।

लेना ने पाँव लेलिये थे। एकदिन खिशेव बड़ी ही खिन्नावस्था में घर लौटा। मैंने तरकीब से उसकी उदासी का कारण जानना चाहा। कहीं कोई दुःखद बात तो नहीं होगई थी ?

उसने ठण्डी साँस लेते हुए कहा—नहीं, नहीं। कोई नयी बात तो नहीं है। परन्तु मैं...

खिशेव की यह खिन्नता कोई नयी बात नहीं थी। हम सब उससे परिचित होचुके थे। जिस सारातोव में उसकी पत्नी मरी वहाँ रहना उसके लिए बड़ा कठिन होरहा था।

'तो तुम्हें यहाँ से चले जाना चाहिये।' मैंने दृढ़तापूर्वक कहा।

'मन से कह रही हो ?' उसने उत्सुकतापूर्वक पूछा और दूसरे ही क्षण उदास होगया। 'मेरे बाद लेना का क्या होगा ?'

'उसे तुम हमारे पास छोड़ सकते हो ?'

'तुम्हारे पास रह जायेगी ?'

असल में उसदिन उसकी खिन्नता का कारण भी यही था। उसे सुदूरपूर्व जाने के लिए कहा गया था परन्तु वह अपनी बे माँ की बच्ची के सम्बन्ध में परेशान होरहा था।

खिशेव चला गया। वह कुछ ही महीनों में लौटने का कह गया था। लेकिन पूरा एकसाल होगया और लौटना तो दूर उसने चिट्ठी तक नहीं लिखी थी।

गर्मियाँ शुरू होगई थीं। हमने बच्चों को देहात में लेजाने का निश्चय किया। जानकर सेरेज़ा को बड़ी खुशी हुई। वह एक टाँग पर फुदकने और गीत गुनगुनाने लगा।

'सेरेझेंका, इतने खुश क्यों हो?' मैंने पूछा।

'हम तो जाएँगे गांव में, गांव में रे...और लेना को छोड़ जायेंगे यहीं शहर में रे।'

तब मैंने पाया कि लेना के प्रति उसकी ईर्ष्या पूरीतरह मरी नहीं थी उसने उसे दबाभर दिया था, जो आज फिर उभर आई थी।

'हर्गिज़ नहीं। लेनोच्का भी हमारे साथ चल रही है। वह यहां क्यों रहेगी?'

सुनकर वह चुप और उदास होगया। फिर उसकी आंखों में शैतानी की झलक दिखलाई दी।

'मानलो कि उसके पिता लौटकर आये तो उसे कहां पायेंगे?'

'तुम उसकी फिक्र मत करो, मेरे मुन्ने!' मैंने रुखाई से हँसते हुए कहा। और वह चर्चा वहीं सदा के लिए समाप्त होगई।

एकबार, गांव में, मैं और मेरे पति बैठे खिशेव के सम्बन्ध में बातें कर रहे थे।

'वह अवश्य ही मर गया है। सालभर होने आया। एक चिट्ठीतक तो आई नहीं।' मेरे मुँह से निकला।

डेविड इवानोविच भी मेरी राय से सहमत थे, बोले—हाँ, लगता है कि मर ही गया है। डाकविभाग की बदइन्तजामी को ध्यान में रखें तब भी सालभर में कम से कम एक चिट्ठी तो पूरब से चलकर यहाँतक आ ही सकती थी।

क्षणभर चुप रहने के बाद मैंने कहा—मुझे उसके लिए दुःख है।

मुझे मालूम नहीं हुआ कि सेरेज़ा हमारी बातें सुन रहा था।

इस बीच लेनोच्का अच्छीतरह बोलने लगी थी। वह मुझे 'अम्माँ' और मेरे पति को 'चाचाजी' कहकर पुकारती थी।

लेना के पिता के सम्बन्ध में हमारी जो बातें हुई थीं उनपर सेरेज़ा काफी देरतक एक कोने में बैठा बिचार करता रहा। लेनोच्का को मैंने उसकी खटिया पर खुली हवा में लेटा दिया था और वह ऊँघ गई थी। हठात् अपनी जगह से उठकर सेरेज़ा खड़ा होगया और उसकी ओर अँगुली दिखलाकर बोला:

'मालूम होता है कि इसका बाप मर गया है!'

मेरे पति ने सम्मतिसूचक सिर हिलाते हुए कहा: 'मेरा भी यही खयाल है।' और उन्होंने मेरी ओर प्रश्नसूचक मुद्रा में देखा।

'तो वह तुम्हें बाबूजी कह सकती है।' सेरेज़ा बिना समझे-बूझे ही बोल गया। और अपनी बात पूरी कर झेंप-सा गया; फिर सीटी बजाता और एक पांव पर फुदकता हुआ वहाँ से चला गया।

यह शिशुमन की उद्धत, विरोधपूर्ण पर साथ ही अर्थपूर्ण अभिव्यक्ति थी। यह बात कहकर सेरेज़ा ने परिवार में लेना के स्थान को स्वीकार कर लिया था, अपनी स्थिति से समझौता कर लिया था और साथ ही हार भी मानली थी।

इसके बाद लेना के प्रति उसके व्यवहार में धीरे-धीरे परिवर्तन भी होने लगा। कहाँ तो पहले अपने खेलों में वह लेना की नितान्त उपेक्षा करता था और कहाँ अब उसे अपने हर खेल और शैतानियों में साथी भी बनाने लगा था। एकदिन तो उसके इस नये व्यवहार के कारण घर में बावेला ही मच गया था।

गाँव में सुरक्षा के खयाल से हमने एक कुत्ता पाल लिया था। यह कुतिया बिल्कुल 'लेडी' थी। निहायत ही डरपोक। अजनबियों को देखते ही भौंकने लगती और फिर टाँगों में दुम दबाये भाग खड़ी होती थी। उसके इस स्वभाव के कारण हमने उसका नाम ही 'दब्बू' रख दिया था।

दब्बू अभी पिल्ला ही थी। बच्चों के साथ खेलने में उसे बड़ा मज़ा आता था। जंगली चूहों का शिकार दब्बू का अति प्यारा खेल था। चूहों के पीछे उसका झपटना बच्चे मंत्र-मुग्ध होकर देखा करते थे।

एकदिन बच्चे दब्बू का शिकार देख रहे थे। खेल ही खेल में उन्हें सुध न रही और वे घर से दूर निकल गये। मैं उससमय रसोईघर में काम कर रही थी; परन्तु कुत्ते का भौंकना और बच्चों की किलकारियाँ सुनाई पड़ रही थीं; इसलिए मैंने कोई विशेष फिक्र न की। थोड़ी-थोड़ी देर में मैं अपनी जगह से खिड़की की राह धूल और मिट्टी का उड़ना देख लेती थी और फिर अपने रसोई के काम में लग जाती थी। अचानक आवाज़ें सुनाई पड़ना बन्द होगईं। मैंने खिड़की के बाहर देखा। मैदान में कोई न था।

'सेरेज़ा! लेनोच्का!' मैं पुकारने लगी।

लेकिन शान्ति छाई रही।

'से रे ए ए ज़ा ऽऽ!

मेरा चूल्हा बिलकुल गरम होगया था और मैं उसे छोड़कर हिल नहीं सकती थी।

'सेरेज़ा ! लेनोच्का ! दब्बू ! दब्बू ! मैंने फिर आवाज़ दी।

मैं खड़ी होगई और हाथ से आँखों पर छायाकर दूर देखने लगी। हठात् मारे डर के मेरे हाथ-पाँव फूल गये। मैं रसोईघर में पहुँची, चूल्हे में बालटीभर पानी डाला और आग बुझाकर सड़कपर दौड़ी आई। आदमी तो ठीक सड़कपर चिड़ी के पूत तक का पता नहीं था। हायराम, अब बच्चों को कहाँ ढूँढ़ूँ?

मैं बाईं ओर, जिधर स्टेशन था, उधर दौड़ी। रास्ते में जो मिला उससे पूछा, मोदी से पूछा और अपने हर पड़ौसी से पूछ आई। लेकिन किसी ने एक लड़का, एक लड़की और एक कुत्ता नहीं देखा था।

इस आशा में कि वे लौट आये होंगे, मैं घर लौटी। लेकिन वे तो अभीतक नहीं लौटे थे।

अब मैं दाईं ओर, जिधर जङ्गल था, उधर भागी। मुझे प्रकृति से बड़ा प्रेम है लेकिन जङ्गल में पाँव रखते ही रास्ता भूल जाती हूँ। सेरेज़ा बचपन से ही जङ्गल में रास्ता खोज निकालने में बड़ा कुशल है, परन्तु मैं तो आज भी रास्ता भूल जाती हूँ। और, उसदिन तो मुझे अपनी सुध ही नहीं थी, इसलिए बिना सोचे-समझे गहरे जङ्गल में घँस गई और दस ही मिनट में भटक गई।

मैं कोई डेढ़ घण्टे तक जङ्गल में भटकती रही और जब थककर चूर होगई तब कहीं सड़क मिली। जब मैं घर पहुँची तो गोधूलि वेला होगई थी।

दरवाज़े पर पहुँची तो अन्धेरा होने लगा था। उससमय मैंने दब्बू की परिचित आवाज़ सुनी। वह उछल-उछलकर भौंक रही थी। मैं उत्तेजित होकर दौड़ पड़ी।

'दब्बू! दब्बू!'

'अम्माँ !' उत्तर में सेरेज़ा की साफ आवाज़ सुनाई दी। 'अम्माँ', चिन्ता की कोई बात नहीं है। हम लोग एक घोड़ेसहित लौट आये हैं...

पहुँचकर देखा तो मेरे अचरज का पार नहीं रह गया। सचही, वे बड़ी शान-शौकत से लौटे थे। दरवाज़े पर एक घोड़ा-गाड़ी खड़ी थी। एक अजनबी घोड़े की रास थामे बैठा था। और गाड़ी के अन्दर शान से सेरेज़ा, लेनोच्का और दब्बू बैठी थी!

'अरे पाजियो, तुम कहाँ चले गये थे?' मैं मारे खुशी के रो पड़ी।

अजनबी ने मुझे बतलाया कि जङ्गल के पीछे, हमारे घर से कोई तीनेक मील के फासले पर सामूहिक खेती का एक खेत है। वहीं सूर्यास्त के समय, कुछ किसानों ने इस त्रिमूर्ति को देखा। तीनों बड़े ही खुश, गन्दे और भूखे थे। लड़के ने बतलाया कि हम लोग सारातोव से गरमी की छुट्टियाँ बिताने आये हैं। लड़के ने अपना नाम सेरेज़ा, लड़की का लेना और कुतिया का दब्बू बतलाया। साथ ही यह भी कहा कि तीनों जङ्गली चूहों का शिकार करने निकले हैं। किसानों ने बच्चों को नहलाया, खाने के लिए दलिया दिया और अब गाड़ी जोतकर घर ले आये थे। मुश्किल यह पेश आई कि घर का पता न तो सेरेज़ा को मालूम था, न लेना को ही! इसलिए अजनबी को हर घर के आगे गाड़ी रोककर पूछना पड़ा कि बच्चे खोये तो नहीं हैं!

अजनबी को धन्यवाद देने के लिए मुझे उपयुक्त शब्द ढूँढ़े नहीं मिल रहे थे; इसलिए खूब ज़ोर के साथ उससे हाथ मिलाकर कृतज्ञता प्रदर्शित की और कभी खेत पर जाने का वादा किया—संभवत: मैं उनके कुछ काम ही आती! जब अजनबी चला गया तो मैं सेरेज़ा की ओर मुड़ी। वह बुरी-तरह सिटपिटा गया था और अपने आप को अपराधी महसूस कर रहा था। मुझे उसपर बड़ा गुस्सा आरहा था और जीवन में पहली मर्तबा उसे पीटने की इच्छा होरही थी। उसपर मन की भड़ास निकालने के लिए

में बेताब होगई थी। यह नहीं कह सकती कि उसदिन अपनेआप पर काबू बनाये रखने के लिए मुझे कितना प्रयत्न करना पड़ा था!

जब लेनोच्का सो गई तो मैं सेरेज़ा को लेकर बाहर बग़ीचे में निकल आई। वहाँ मैंने बिना किसी लाग-लपेट के उससे कहना शुरू किया:

'देख, सेरेज़ा, तू लेना से उम्र में बड़ा है और उसकी हिफाजत करना तेरा फर्ज है। मानलो कि किसान तुम्हें न देखते तो क्या होता? जङ्गल में भूखों मर जाते कि नहीं?

'और सबसे पहले लेनोच्का मरती, क्योंकि वह उम्र में तुझसे छोटी और कमज़ोर भी है।'

सेरेज़ा मेरी बात पर गम्भीरता से विचार करने लगा। यह बात झट से उसकी समझ में आगई कि वह बड़ा है और उसकी वजह से लेनोच्का मर सकती थी।

'और यदि वह नटखटपन करे?' उसने पूछा।

मैंने उसीतरह कहा—तो तुम्हें उसे हटकना चाहिये। मैं तुमपर निर्भर करती हूँ।

वह फिर मेरी बात पर विचार करने लगा। उसपर मेरी बात का असर होरहा था। थोड़ी देर बाद अपने पिताजी के साथ बातचीत करते हुए उसने बड़ी ही गम्भीरता के साथ कहा:

'मैं अब बड़ा होगया हूँ और अम्माँ मुझपर निर्भर करती हैं।'

× × ×

जब लेना चार बरस की हुई तो एकदिन अचानक ही, बिना किसी पूर्व सूचना के उसका पिता लौट आया। वह इतना बदल गया था कि हठात् पहिचाना ही नहीं जाता था। वह थोड़ा दुबला होगया था, रंगत

साँवली पड़ गई थी और लगता था कि उसने अपने आपपर काबू पा लिया है। वह अकेला नहीं था। साथ में नयी बीवी भी थी। बातचीत से ऐसा लगा कि नयी बीवी सौतेली माँ के प्रति प्रचलित धारणाओं में ज़रा भी विश्वास नहीं करती थी। उसने लेना को अपने साथ लेजाने का निश्चय प्रकट किया।

विदाई का दृश्य बड़ा ही करुणापूर्ण था। लेना फूट-फूटकर रोई! मैं भी अपनी रुलाई को रोक न सकी।

हमारा घर एकबार फिर सूना होगया।

मुझे लेना का अभाव बुरीतरह खलने लगा और उसकी कसर निकालने के लिए मैं सेरेज़ा को बहुत ही ज्यादा दुलार करने लगी।

उन्हीं दिनों मेरे पति का तबादला सारातोव से राइबिन्स्क होगया। हम सभी उनके साथ वहाँ चले गये। साथ में दब्बू को भी लेते गये।

हठात् सेरेज़ा को वायलिन सीखने की धुन सवार हुई। रातदिन सिवा वायलिन के और कुछ भी नहीं सूझता था। बस, उसने एक वायलिन की रट पकड़ली थी।

सेरेज़ा धीरे-धीरे निरंकुश और दुराग्रही होता जारहा था। उसकी हर अभिलाषा पूरी की जाती थी। बस, बात मुँह से निकलने की देर थी! बड़े परिवारों में बच्चे जिन चीज़ों के लिए तरसते रहते हैं वे सब उसे तत्काल मिल जाया करती थीं—खिलौने वाली किताब, रँगे-चुँगे खिलौने और सैर-सपाटा किसी भी चीज़ के लिए उसे दुबारा कहने की ज़रूरत नहीं पड़ती थी।

वायलिन के सम्बन्ध में भी यही हुआ। सिखलाने वाले की खोज से हमने वायलिन-प्रसङ्ग शुरू किया। राइबिन्स्क में वायलिन-शिक्षक पाना उतना आसान नहीं था; परन्तु हमने एक शिक्षक ढूढ़ ही निकाला। शिक्षक ने पहले दिन सेरेज़ा की परीक्षा ली और बतलाया कि उसके कान बहुत सधे हुए

हैं; और, वायलिन सीखने में कानों का सधा होना पहली शर्त होती है। उसके बाद वायलिन की खोज शुरू हुई। सेरेज़ा अभी छोटा था और उसके-लिए बचकाना वायलिन की आवश्यकता थी। हमने सारा शहर छानमारा लेकिन राइबिन्स्क में सेरेज़ा के नाम का वायलिन बाजा नहीं मिला। उधर वायलिन के लिए उसकी माँग बढ़ती ही जाती थी। कोई दिन ऐसा न बीतता जब वह वायलिन न माँगता हो। आखिर नौबत यहांतक पहुँची कि घर में आते-जाते भी वह हमें टोकने और पूछने लगा—

'क्यों, वायलिन मिल गया ?'

अन्त में एकदिन, वायलिन के लिए मैंने मास्को जाना तै किया।

जितना मैंने उसे लाड़ लड़ाकर सिर चढ़ा रखा था उतना ही मेरे पति ने भी उसे सिर चढ़ा रखा था; इसलिए वायलिन के लिए मेरा मास्को जाना उन्हें भी असङ्गत न लगा। हाँ, अपने मित्रों से मैंने अपनी मास्को यात्रा का वास्तविक उद्देश्य अवश्य छिपाकर रखा था।

जब मैं रवाना होने लगी तो पहलीबार पूरीतरह मेरी समझ में आया कि इसतरह तो हम पति-पत्नी मिलकर बच्चे को पूरीतरह से बिगाड़ देरहे हैं। 'नहीं, यह सब नहीं चलने का।' मैंने, मन ही मन, सौवींबार अपनी लानत-मलामत की।

हठात् मुझे खयाल आया कि जब लेनोच्का हमारे साथ थी तो सेरेज़ा का दिमाग़ यों सातवें आसमान पर नहीं चढ़ा करता था। मैंने उससमय की हर छोटी-बड़ी घटना को याद करने का प्रयत्न किया, और बात मेरी समझ में आगई। उससमय घर में दो बच्चे थे। मेरा ध्यान दोनों की ओर बँटा रहता था और सेरेज़ा अकेला कभी मेरे सारे प्यार और चिन्ता का केन्द्र नहीं बन पाता था।

उसी रात मैंने डरते-डरते अपने पति से मन की बात कही।

'यदि मैं मास्को से तुम्हारे लिए एक बेटी लेआऊँ तो कैसा रहे?'

मेरे पति काफ़ी देरतक सोचते रहे फिर मेरी ओर देखते हुए बोले:

'विचार तो बुरा नहीं है। असल में एक बच्चे का परिवार भी कोई परिवार है? कम से कम दो बच्चे तो होने ही चाहिये।

मास्को पहुँचकर मैंने अपना इरादा अपने भाई मिशा पर प्रकट किया।

जबसे लेनोच्का गई मैं एकतरह से सेरेज़ा की दया पर जी रही हूँ। मैं एक बिटिया चाहती हूँ...'

'तुम्हारे पति का क्या खयाल है?'

'वह तो राज़ी होगये हैं।'

'फिर क्या कहने हैं! विचार तो बहुत अच्छा है!' मिशा ने उत्साह प्रदर्शित करते हुए कहा।

लेकिन बिटिया को ढूँढ़ती कहाँ?

मिशा ने इस मामले में मेरी काफी सहायता की। हम दोनो भाई-बहिन सरकारी अनाथालयों का चक्कर लगाने निकले।

मैं अन्दर जाकर अनाथालय के मैनेजर से मिलती और उससे अपने मन की बात कहती:

'मैं एक लड़की को गोद लेना चाहती हूँ। लड़की की उम्र डेढ़ या दो साल से अधिक न हो।'

मैनेजर मुझे बड़े ही अविश्वास और सन्देह से देखते थे। उन दिनों बच्चों को गोद लेने वालों की अपेक्षा बच्चों को सड़कपर छोड़ने वालों की संख्या ही अधिक थी। मैनेजर मुँह विचकाता हुआ मुझे अन्दर बच्चों के कमरे में लेजाता और लड़की छाँटने के लिए कहता।

इसतरह मैंने बारह अनाथालयों का चक्कर लगाया; परन्तु मुझे अपने मन की बिटिया कहीं न मिली।

अब सिर्फ एक तेरहवाँ अनाथालय और बच गया था। वह अनाथालय प्यात्नीत्स्काया सड़कपर था और दूर होने की वजह से हम वहाँ नहीं जासके थे। यों तेरहवीं संख्या अपशकुनिया समझी जाती है; परन्तु मेरा मन कह रहा था कि यह तेरहवीं संख्या मेरे लिए सौभाग्यसूचक होगी।

उस अनाथालय में सभी जातियों के बच्चे थे। मुझे कुछ बच्चे दिखलाये गये और मैंने तत्काल एक बच्ची को चुन लिया; वह दो साल की एक गोलमटोल बालिका थी।

मैंने उसे दिखलाकर कहा— मैं इसे चाहती हूँ।

उसका रजिस्टर और कागज़-पत्तर लाये गये। वह बिलकुल अनाथ निकली। जाति की तातार थी। नाम था मौला। उम्र एकसाल और आठ महीने। काली आँखोंवाली, गोलमटोल, बड़ी ही प्यारी लड़की थी। देखते ही मेरे मन को इसतरह लुभा लिया, मानों बरसों की पहचान हो।

मैं तो उसे तत्काल ले आना चाहती थी; परन्तु वे लोग बिना खाना-पूरी किये भेजने को तैयार नहीं हुए। दूसरे, अनाथालय के कपड़े वहीं रख लिये जाते थे और मैं अपनी मुन्नी के लिए कपड़े भी नहीं लेगई थी!

मैनेजर ने मेरे उतावलेपन का कोई खयाल किये बिना बड़ी ही रुखाई से कहा—इसके पहिनने के लिए कुछ कपड़े तो ले आओ!

मैं दौड़कर बाज़ार गई। १९२२ का साल था। निजी दुकानों में कपड़ों का अम्बार लग रहा था और क़ीमतें आसमान छूरही थीं। उससमय मैं भाव-ताव करने की मनस्थिति में नहीं थी। दुकानदार ने जो माँगा वह देकर कुछ कपड़ा खरीद लिया। रास्ते में मुझे खिलौने का खयाल आया। दुकानें बन्द होने लगी थीं। सड़कपर एक फेरीवाले के पास मुझे कपड़े का बना एक सुन्दर-सा बन्दर दीख गया। मैंने वही खरीद लिया। अपने सरोसामान के साथ मैं फिर अनाथालय में पहुँची उससमय बच्चों को खिला-पिलाकर

सुलाने की तैयारियाँ की जारही थीं। मैनेजर ने मुझे दिक़ करने के इरादे से कहा:

'अब इसे कल भेजेंगे।'

'जी नहीं, मैं तो अभीहाल लेजाऊँगी।'

हमने उसे कपड़े पहिनाना शुरू किया। मैंने अपनी गँठरी खोलकर कपड़ा निकाला परन्तु वह इतना छोटा था कि मौला के बदन में आता ही नहीं था। मैं बिना सोचे-समझे दोसाल की लड़की के पहिनने के लिए कपड़ा लेआई थी; परन्तु मेरी नयी बिटिया इतनी मोटी थी कि असल में उसके बदन में तीनसाल के बच्चे का कपड़ा बैठता था।

मेरी परेशानी देखकर अनाथालय के मैनेजर को दया आगई। वह बोली:

'कोई हर्ज़ नहीं। अपनेवाला सलूका आप यहाँ छोड़ जाइये और हमारा सलूका लेजाइये। सिर्फ हमारे सलूके में झालर नहीं है और वह मोटे कपड़े का भी है।'

परन्तु उससमय मुझे झालर से अधिक अपनी बिटिया की फ़िक्र थी!

ख़ैर, वह कपड़े-लत्ते पहिनकर तैयार होगई। उन कपड़ों में भी वह बड़ी बेहूदी लग रही थी इसलिए मैंने उसे गोद में लेलिया और उठाकर ट्राम तक लेगई। ट्राम में काफी भीड़-भाड़ और धक्का-मुक्की थी। बैठने के लिए एक भी सीट खाली नहीं मिली। मैं अपनी बिटिया को गोद में उठाये रास्ते भर खड़ी रही। मैं स्वीकार करती हूँ कि मेरी बिटिया बहुत ही भारी थी।

जब मैं भैया के यहाँ पहुँची तो हमारा स्वागत करने सारा घर बड़े कमरे में आपहुँचा।

'यह है मेरी बिटिया!' मैंने हाँफते हुए कहा।

मिशा ने मुझे झकझोरते हुए बधाई दी।

मेरे हाथ सुन्न होरहे थे। मैंने बच्ची का कोट, मफलर और टोपी उतारे और उसे कमरे में लाकर सावधानी से जमीन पर बैठा दिया। बैठाने कि देर थी कि वह धड़ाम से जमीन पर लेट गई। यह देख मेरा तो कलेजा मुँह को आगया।

'मुन्नी, मेरी रानी, तुझे क्या होगया? तू गिर तो नहीं पड़ी? ले, अब झट से उठ बैठ।'

पर वह टस से मस न हुई।

'रानी बिटिया, तुझे क्या होगया? उठ तो जा बिटिया!'

लेकिन वह वैसी ही लेटी रही और लेटी-लेटी मुझे घूरने लगी। मैंने उसे उठाने का प्रयत्न किया तो वह टाँगे पछाड़ने लगी। जब मैंने ज़ोर-ज़बर्दस्ती करना चाही तो वह आँसू ढारने लगी। मैंने ज़रा आवाज़ तेज़ की तो मामला और भी बेढब होगया। अब तो जो भी कमरे में था वही सलाह देने लगा। कोई उसे पुचकारता और कोई दुलराता था। लेकिन मौला बेफिकर जमीन पर पड़ी थी। वह उसीतरह पड़ी टाँगें पछाड़ती रही।

अब मेरे भाई ने मामला अपने हाथ में लिया।

'यह क्या तमाशा लगा रखा है? तुम सब लोग यहाँ से बाहर जाओ।' उसने ननुनच की ज़रा भी गुञ्जाइश छोड़े बिना बड़ी ही दृढ़ता से कहा। सबके सब बाहर चले गये। कमरे में मौला, मैं और मेरा भाई रह गये।

'क्या वह लेटना चाहती है? अच्छी बात है, उसे वहीं लेटने दो।' मेरे भाई ने कहा।

फिर वह मेरा हाथ पकड़कर मुझे खिड़की के पास लेगया और मौला की ओर मेरी पीठकर मुझसे बातें करने लगा।

मैंने साहस बटोरकर फ्रान्सिसी जबान में कहा—मिशा, उसे ठण्ड लग जायेगी।

'चिन्ता मत करो, उसे कुछ नहीं होगा।' मिशा ने बात काटते हुए कहा।

और, उसने फिर बातचीत शुरू की। बातचीत का सिलसिला बनाये रखने में मुझे कड़ा परिश्रम करना पड़ रहा था। मैं मुड़कर उसे देखने के लिए बेताब होरही थी। अन्त में उसने पाँव पीटना बन्द कर दिया। मैं देखने के लिए मुड़ी लेकिन मिशा ने मेरी बाँह् पकड़ते हुए कहा—नहीं-नहीं, ऐसा हर्गिज़ मत करना।

हम खिड़की पर खड़े, सड़क की ओर देखते हुए बेमतलब की बातचीत करते रहे। थोड़ी देर में मैंने अपनी पीठ की ओर आवाज़ सुनी। मौला उठने का प्रयत्न कर रही थी। मैं कुछ कहने जा ही रही थी कि मेरा भाई बोला:

'उठ क्यों रही हो? जाओ, वहीं लेट जाओ।'

उसे बड़ा अचरज हुआ, पर वह वहीं जमीनपर जाकर लेट रही।

और मेरा भाई, उसकी नितान्त उपेक्षा किये, मुझसे बातें करने लगा।

अन्त में मौला थक गई। वह बोली:

'मैं अब नहीं रोती। मैं उठना चाहती।'

भैया ने पूछा—तुम हमेशा इसतरह फ़र्शपर लेटकर रोती हो?

मौला थोड़ी देरतक सोचती रही, फिर निश्चयात्मक स्वर में बोली:

'अब कभी नहीं रोऊँगी।'

'अच्छी बात है। कभी नहीं रोओगी तो बात दूसरी है। तुम उठ सकती हो। लेकिन याद रखो, तुमने कहा है कि अब कभी नहीं रोओगी।'

रोई तो वह आगे भी कईबार लेकिन धरती पर पछाड़ मारना उसका हमेशा के लिए बन्द होगया।

'बालमनोविज्ञान' में यह व्यावहारिक सबक देने के लिए मैं अपने भाई की कृतज्ञ हूँ। उसने हम दोनो को ही अच्छी सीख दी थी।

दूसरे दिन हम दोनो माँ-बेटी राइबिन्स्क चली आई। मेरे पति और सेरेज़ा हमें स्टेशन पर ही मिले।

मेरे पति ने सोचते हुए कहा—मौला नाम तो बड़ा सुन्दर है। लेकिन यदि बच्चों को उनके जन्म के सम्बन्ध में असली बात नहीं बतलाना है, तो हमें उनका नाम बदलना होगा। क्योंकि हमारे परिवार में किसी बच्चे का नाम मौला हो ही कैसे सकता है?

पति की राय से मैं भी सहमत थी। हमने मौला का नाम बदलकर ज़ेनिया कर दिया।

दूसरे दिन सवेरे छहबजे ज़ेनिया सोकर उठी। वह अपने बिस्तरे में खड़ी होगई और अपने चारों ओर अपरिचित कमरे में आँखें नचाती हुई बोली—ओती?

उसका मतलब रोटी से था। उसे भूख लगी थी।

× × ×

अब हमारे अपने दो बच्चे होगये थे।

सेरेज़ा बड़ा ही फुर्तीला और जीवट वाला था। क्षणभर के लिए भी चुप बैठना तो वह जानता ही न था। इसके बिलकुल विपरीत, ज़ेनिच्का बड़ी ही धीमी और सुस्त थी। सेरेज़ा उसे दौड़ाता रहता था।

'जाओ गेंद लेकर आओ।' वह उसे हुक्म सुनाता था।

'कहाँ से?' ज़ेनिया बड़ी ही धीमी आवाज़ में पूछती थी।

'बच्चाघर से।' सेरेज़ा उतावला होकर कहता था।

एकदिन ज़ेनिया के धीमेपन के कारण सेरेज़ा को गुस्सा आगया।

'कहाँ से, कहाँ से?' उसने ज़ेनिया की नक़ल करते हुए कहा—चीन से।'

'चीन कहाँ है?' ज़ेनिया ने उसी निश्चिन्तता से पूछा।

'बेवकूफ कहीं की!' सेरेज़ा चिल्ला पड़ा।

'सर्जी, यहाँ आओ!' उसके पिताजी ने उसे आवाज़ दी।

वह उनके पास गया।

उन्होंने बड़ी ही रुखाई से पूछा—पाँच इंच आधारवाले एक समकोण त्रिभुज का वर्णन तो करो!

डरे हुए लड़के ने बड़ी मुश्किल से हकलाते हुए दुहराया—किसका वर्णन करूँ!

'किसका वर्णन करूँ?' उसके पिता ने उसकी नक़ल करते हुए कहा—एक समकोण त्रिभुज का!

'लेकिन समकोण त्रिभुज क्या होता है?' उसने हकलाते हुए पूछा। उसकी समझ में आ चला था कि वह पकड़ा गया है।

उसके पिताजी ने बड़ी ही शान्ति से जवाब दिया—मैं भी तुम्हारी तरह पाँव पटककर चिल्ला सकता हूँ, 'बेवकूफ कहीं का'। ठीक यही तुमने अभी अपनी छोटीबहिन के साथ किया है। जैसा तुम्हें समकोण त्रिभुज नहीं मालूम वैसा ही उसे चीन नहीं मालूम। और तुम उमर में उससे कहीं बड़े हो और तुमसे कई बातों की अपेक्षा भी की जाती है।

सर्जी पर घड़ों पानी पड़ गया। उसने शर्म के मारे सिर झुका लिया।

'लेकिन मैं तुम्हें झिड़कूंगा नहीं, क्योंकि तुम अभी बच्चे हो। आशा है तुम भी अपनी बहिन के साथ समझदारी से पेश आओगे!' उसके पिताजी ने कहा।

उसदिन के बाद से सेरेज़ा ने ज़ेनिया को कभी तङ्ग नहीं किया।

ज़ेनिया पशुओं को बहुत प्रेम करती थी।

गर्मियों में, हमारे मकान के पास ही, गायों का झुण्ड चरा करता था। ज़ेनिया आंख बचाकर झट से चरागाह में पहुँच जाती थी।

हम उसे अकसर सचेत करते—किसी दिन कोई गाय सींग में उठाकर उछाल देगी तो मालूम पड़ेगा। वह चुपचाप हमारी चेतावनी सुन लेती और मौक़ा देखते ही गायों के बीच पहुँच जाती थी।

वह बड़ी ही हठी लड़की थी। सेरेज़ा समझाने पर समझ जाता था; लेकिन ज़ेनिया तो चिकने घड़े की तरह थी। उसपर किसी बात का कोई असर ही नहीं होता था। वह न तो रोती थी, न चिल्लाती थी और न पांव ही पटकती थी। जो कुछ कहते शान्ति से सुन लेती, फिर निर्विकार भाव से देखते हुए कह देती—मैं नहीं चाहती।

उसका यह 'मैं नहीं चाहती' आँसुओं से भी अधिक प्रबल अस्त्र था।

एकदिन सेरेज़ा बेतहाशा दौड़ा बग़ीचे में आया। वह सूखे पत्ते की तरह काँप रहा था।

'अम्मा, अम्मां, ज़ेङ्का फिर चरागाह में चली गई है और बुरेङ्का भी वहां मौजूद है।'

बुरेङ्का लालरङ्ग की बड़ी ही नटखट गाय थी। उसके सींग लम्बे-लम्बे थे और वह 'भिटी' मारने में बड़ी ही बदनाम थी।

सेरेज़ा के साथ मैं भी तेज़ी से दौड़ती हुई फाटक पर पहुँची। चरागाह में आकर देखा तो मेरे हाथ-पांव फूल गये। बुरेङ्का दूसरी गायों के बीच घास पर बैठी थी। और ठीक उसके सिरपर, उन लम्बे सींगों के बीच टांगें फैलाये, ज़ेनिया सवार थी।

मैं तो सुध-बुध ही भूल गई; परन्तु सेरेज़ा ने अपनी नन्हीं आवाज़ में उसे फुसलाते हुए कहा:

'ज़ेनुरिया, ज़ेनीच्का, तू बुरेङ्का के सिरपर काफी देर बैठली। अब उतर आ, तुझे दूध पिलाएँगे।'

ज़ेनिया को दूध बहुत भाता था। वह हरसमय, हरपरिस्थिति में और हरजगह दूध पीने को तैयार रहती थी। उसने जब सेरेज़ा की बात सुनी तो झट से बुरेङ्का के माथे पर से उतर पड़ी और बतख की तरह डोलती हुई मेरी ओर बढ़ी।

सर्जी ने मुझसे कहा:

'अम्मां, मैंने दूध का कहा तब कहीं उतरी है। मैंने बुरा तो नहीं किया?'

'नहीं मेरे लाल! हम उसे निराश नहीं करेंगे। उसे दूध ज़रूर दिया जायगा।' मैंने सर्जी को जवाब दिया और अपनी हठी बेटी को गोद में उठाकर घर में लेगई।

सर्जी, लेना और दब्बू खोगये थे उसदिन जिसतरह सेरेज़ा को पीटने के लिए बेताब हो उठी थी, ठीक उसीतरह आज भी ज़ेनिया को पीटने के लिए बेताब होगई परन्तु बड़ी मुश्किल से अपनेआप को रोक सकी।

ज़ेनिया को वादे के अनुसार दूध दिया और जब मैं शान्त हुई तो मैंने उससे सख्ती से कहा:

'आज तुझे माफ़ कर देती हूँ। लेकिन आगे से तूने कहना न माना तो याद रखना जुच्का की तरह तेरे भी गले में एक रस्सी डालकर खूँटे से बांध दूँगी। वह भी उजाड़ करती फिरती है इसलिए रस्सी से बाँधी गई है।'

मेरी धमकी काम कर गई। उसके बाद ज़ेनिया कभी अकेले चरागाह में नहीं गई।

तीसरा परिच्छेद

मैं मास्को जाकर सेरेज़ा का वायलिन ले आई थी। वायलिन देखकर वह खुशी के मारे नाच उठा। दिनभर बाजे के घर को खोलता और बन्द करता, थपथपाता, पालिश करता और कन्धे से लगाये फिरता।

नोटेशन सीखने में उसे कोई देर न लगी। लेकिन जैसे ही राग निकालने का वक्त आया, बड़ी ही उलझन पैदा होगई। वह ज्यों ही बजाने का प्रयत्न करता उसके सिर में ज़ोरों का दर्द शुरू होजाता था। उसकी अँगुलियाँ झनझनाने लगतीं और वह थक जाता था।

उसका यह व्यवहार मेरी समझ में नहीं आ पाता था। कहाँ तो वह वायलिन सीखने के लिए इतना उत्सुक था और बाजे के लिए उसने जमीन-आसमान एक कर दिया था और अब जब बाजा आगया तो उससे जी चुराने लगा था।

मैं उसपर बरस पड़ी—यह सब क्या नटखटपन लगाया है, सर्जी? कभी यह चाहिये, कभी वह चाहिये, यह सब मनमानी चलने की नहीं। साफ कहे देती हूँ कि तुझे वायलिन सीखना ही पड़ेगा।

लेकिन सख्त-सुस्त कहने का भी कोई असर नहीं हुआ।

मेरे पति का एक मित्र वायलिन बजाने का बड़ा शौकीन था। वह अकसर हमारे घर आता-जाता रहता था। मैंने पाया कि जैसे ही वह घर में आता, सेरेज़ा कहीं गायब होजाता था और जिसदिन गायब होने का मौका न

मिलता और उसे मजबूर होकर वायलिन सुनना पड़ता तो उसकी आँखों में आँसू आजाते थे। लेकिन मेरा पियानो बजाना वह बड़े चाव से सुना करता था।

यह सब देखकर मेरा चिन्तित होना स्वाभाविक ही था। मैंने मन ही मन सोचा कि वह कहीं चञ्चल तो नहीं हुआ जारहा है! और यह सोचकर मैं राइबिन्स्क के एक सुप्रसिद्ध शिशु-विशेषज्ञ से सलाह लेने गई।

उस बूढ़े डाक्टर ने मेरी सारी बात बड़े ध्यान से सुनी।

'तुम्हारे बेटे के बचपन में कोई ऐसी घटना तो नहीं घटी है, जिसकी वजह से वायलिन के सम्बन्ध में उसके मन पर अप्रिय छाप पड़ी हो?'

मैंने अपने कन्धे उचका दिये। डाक्टर मुझे सवाल पूछता रहा। तब, मैंने उसे सेरेज़ा के जन्म के सम्बन्ध में सारी बात कह सुनाई और उसके आरम्भिक बचपन के सम्बन्ध में अपनी अनभिज्ञता प्रदर्शित की।

बूढ़े डाक्टर ने मुझे सलाह दी—अच्छी बात है। उसके वायलिन सीखने पर ज़ोर मत दो। तुम्हारा बेटा बड़ा ही भावुक प्रकृति का मालूम पड़ता है। संभव है, वायलिन सुनकर उसे अन्धे का तानपूरा याद हो आता हो।

मैंने उसकी सलाह का तत्काल और अक्षरशः पालन किया।

हमने वायलिन एक अलमारी में छिपाकर रख दिया। वह वहाँ कई दिनोंतक पड़ा रहा और मैं अपने मन में यह साध छिपाये रही कि किसी न किसी दिन हमारा सेरेज़ा वायलिन बजाने लगेगा। लेकिन मेरी साध केवल साध ही रही। वह कभी पूरी न हुई। पियानो की गतें तो वह सुनते ही पहिचान लेता था। परन्तु उसका संगीत-ज्ञान इससे आगे न बढ़ा।

ठोका-पीटी के काम में सेरेज़ा को छुटपन से ही बड़ा मज़ा आता था। जब वह बच्चा था तभी से हथौड़ा उसका अतिप्रिय खिलौना बन गया था।

एकबार उसके पिता ने उसे एक सान ला दी थी। वह चाकू पर धार करने वालों की सान से मिलती-जुलती थी। उसे पाकर सेरेज़ा की खुशी का ठिकाना न रहा।

'चाकू पर धार करालो, छुरी की धार!' वह दिनभर चिल्लाता रहता और उसने घर के सभी छुरी-काँटों और कैंचियों पर धार भी करदी थी।

शुरू-शुरू में उसके हाथ चुटिया जाते थे; परन्तु हमने कभी उसओर विशेष ध्यान नहीं दिया। क्योंकि हम जानते थे कि बिना चोट-चपेट के बालक कभी कुछ नहीं सीखते।

उधर सेरेज़ा मुर्गे की तरह अकड़कर चलने लगा था। उसे इस बात का गर्व था कि वह बड़े आदमी का काम कर रहा है। उसे इस बात का भी फख्र था कि वह घर में उपयोगी काम करता है।

मेरे पति डेविड इवानोविच बड़े ही कुशल शिकारी थे। मछली फँसाने में तो वह एक ही उस्ताद थे। बचपन से ही वह सेरेज़ा को मछली मारने में अपने साथ लेजाने लगे थे।

हमारे पास एक मोटरबोट थी और मेरे दोनो शिकारी उसी में बैठकर नदी में मछली का शिकार करने जाया करते थे। शाम को वे जाल फैला देते और उसमें जो कुछ फँसता उसी को भूनभान कर रात में खाते थे। सेरेज़ा खाना पकाता था। वह अभी सात साल का भी नहीं हुआ था, परन्तु राइबिन्स्क के मछुओं में उसके पकाये खाने की धूम मच गई थी।

अभी सेरेज़ा मुश्किल से छह बरस का भी नहीं होपाया था कि मेरे पति उसे शिकार में साथ ले जाने लगे। इतनी छोटी उम्र में वह बन्दूक तो नहीं चला सकता था लेकिन राइफलें साफ करने और शिकारी साज-सामान की हिफाजत करने में अपने पिता की सहायता बड़े चाव से किया करता था। बचपन में पड़ी हथियारों को स्नेह और संभ्रम से देखने की उसकी यह आदत आज भी विद्यमान है।

कैसा ही औज़ार या यन्त्र हो, सेरेज़ा उसे देखते ही मन्त्रमुग्ध होजाता था। उसे सबसे ज्यादा खुशी उस समय होती थी जब उसे हथौड़ा, कुल्हाड़ी, आरी या पकड़ (वाइस) दी जाती थी। इन औज़ारों को वह अपनी निजी सम्पत्ति समझता और उन्हें बड़ी ही हिफ़ाजत से रखता था।

जब हम सारातोव में थे, सेरेज़ा अपना अधिकांश समय पनचक्की के कारखाने में ही बिताता था। राइबिन्स्क में उसने कामरेड एल० नामक प्रधान मैकेनिक से दोस्ती करली थी। कामरेड एल० बड़ा ही सज्जन और अधेड़ पुरुष था। वह बड़े चाव से सेरेज़ा को यन्त्रों और औज़ारों के के सम्बन्ध में सिखलाता और उनके उपयोग को प्रत्यक्ष दिखलाता भी था। सेरेज़ा की याददाश्त, कुशाग्र बुद्धि और ज्ञानपिपासा देखकर वह चकित रह जाता था। और वास्तव में, सेरेज़ा जैसे छोटे बालक के मुँह से यन्त्रों के सम्बन्ध में पेचीदगी से भरी बातों को सुनना और 'बालबियरिंग' के चलते-चलते गरम होजाने का कारण मालूम करना बड़ा ही आश्चर्यजनक लगता था।

एकदिन कोई निरीक्षण-मण्डल पनचक्की का मुआयना करने आया। शायद इतवार का दिन था। और मेरे पति की छुट्टी थी; फिर भी उन्हें जाना पड़ा।

निरीक्षण-मण्डल के सदस्य पनचक्की के हर कोने में बड़ी सन्देहात्मक दृष्टि से देखने लगे। पनचक्की के कारीगर चुप लगाये उनके पीछे-पीछे फिर रहे थे। सेरेज़ा भी चुपचाप बड़ों के पीछे-पीछे घूम रहा था। (उन दिनों कारखानों में बालकों की उपस्थिति पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता था।)

निरीक्षक लोगों को यन्त्रों के सम्बन्ध में खाक-पत्थर कुछ भी नहीं मालूम था। उनकी कुछ बातें तो हददर्जे की बेवकूफी से भरी हुई थीं। लेकिन पनचक्की के कारीगरों में से किसीका साहस उनका विरोध करने का नहीं हुआ। तब सेरेज़ा को यकायक गुस्सा आगया।

'तुम लोगों को शर्म आना चाहिये !' वह अपने बाल-सुलभ तीखे स्वर में चिल्ला पड़ा और वहीं उन लोगों को उनके शर्मिन्दा होने का कारण भी विस्तारपूर्वक समझाने लगा।

उसकी बात सुनकर सन्नाटा होगया और सब के सब झेंप गये। परन्तु प्रधान निरीक्षक बड़ा ही मसखरा आदमी था। वह खिलखिला कर हँस पड़ा और सारा मामला वहीं रफा-दफा होगया।

कभी-कभी सेरेज़ा अपने हाथों से बड़े ही अनोखे औज़ार और यन्त्र भी बनाता था। हम हरतरह से उसका हौसला बढ़ाते थे। लेकिन जितना सामान उसके हाथों बर्बाद होता, उसके विचारमात्र से हमारे रोंगटे खड़े होजाते थे।

सेरेज़ा अभी आठबरस का भी नहीं हुआ था कि तालों की मरम्मत करने लगा था। जाने क्यों, हमारे घर के ताले अकसर बिगड़ने लगे थे। (मैं स्वीकार करती हूँ कि इस सम्बन्ध में हम सेरेज़ा पर सन्देह भी करने लगे थे।) या तो ताला बिगड़ जाता था, या चाभी खोजाती थी और हम बन्द भण्डार के आगे विवश खड़े रह जाते थे।

उस वक्त सेरेज़ा बड़ी ही गम्भीरता से अपनी खटर-पटर शुरू कर देता था। थोड़ी देर में, उसके प्रयत्नों से ताला खुल जाता था। नयी चाभी दो-चार बार गलत दिशा में घुमाना पड़ती थी परन्तु ताला हरबार खुल ही जाता था।

घर-गृहस्थी के कामों में, जैसे पानी भरना, लकड़ी काटना आदि में हम सब हाथ बँटाया करते थे। और सेरेज़ा छुटपन से ही उत्साहपूर्वक इन कामों में हिस्सा लेने लगा था।

मेरे पति और मैं लकड़ी चीरने के लिए बैठते ही थे कि सेरेज़ा आकर हमारे चारों ओर मँडराने लगता था।

'अम्माँ, तुम थक गई होगी; ज़रा अपनी जगह मुझे बैठने दो।'

इस काम में उसे इतना आनन्द आता था कि मना करने का मेरा साहस ही नहीं होता था, और शीघ्र ही वह लकड़ी चीरने के काम में निष्णात होगया।

एकदिन की बात है। मेरे पति कहीं बाहर गये हुए थे और मुझे पता चला कि घर में ईंधन नहीं रहा है।

मेरी मटर चूल्हे पर चढ़ी हुई थी।

'अब क्या किया जाय?' मैंने चिन्तित होकर कहा।

'तो अम्माँ, आओ, हम-तुम मिलकर चीर लें।' मेरे सात साल के काम-काजी बेटे ने खुश-खुश अपनी राय दी।

पहले तो मैं राज़ी न हुई परन्तु और कोई चारा भी नहीं था।

'ज़रा सावधानी से, अपने हाथों का खयाल रखो!' मैं बीच-बीच में उसे टोकती जाती थी।

ज़रा-सी देर में हमने काफी ईंधन चीर डाला। सेरेज़ा खुशी से फूला-फूला छिल्पों को ढोकर रसोईघर में ले गया। उसके बाद हम दोनों माँ-बेटे अक्सर मिलकर लकड़ी चीरा करते थे।

सेरेज़ा के पास अपनी छोटी-सी कुल्हाड़ी थी उसे उसका इस्तेमाल करने में बड़ा मज़ा आता था। मैं उसे कभी हटकती नहीं थी, क्योंकि मैं मानती थी कि जिस परिवार में बड़े काम करते हों, वहाँ बच्चों को भी अपने हिस्से का काम करने देना चाहिये।

सर्जी की देखादेखी ज़ेनिया भी काम माँगने लगी थी इसलिए हमें उसके लिए भी कुछ न कुछ काम निकालना पड़ा।

मैंने उसे टेबल लगाना (हमारे यहां भोजन से पहले पटे बिछाना, थाली-कटोरी रखना आदि) सिखला दिया। जो चीज़ें टूटने सरीखी न होतीं उन्हें लाने का काम उसके जिम्मे था। वह लकड़ी की नमकदानी, छुरी-कांटे आदि रखती और उन्हें समेटती भी थी। भोजन के बाद टेबल का मोमजामा धोने का काम भी उसीके जिम्मे लगा दिया था। लेकिन शीघ्र ही वह इस काम से उकता गई और अपने कर्तव्य से मुँह चुराने लगी। लेकिन यहां मैंने सख्ती की।

हमारे घर में 'किसी काम को हलका न समझो' के नियम का सख्ती से पालन होता था।

* * *

१९२३ में मेरे पति का तबादला मास्को की मुख्य पनचक्की ग्लावमुका में कर दिया गया। हम सभी लोग उनके साथ मास्को चले आये।

हमें मास्को में ही एक मकान देने का वादा किया गया था, लेकिन उनदिनों मकानों का बड़ा संकट था। इसलिए हमें कतुआर पुरे के समीप के जंगल में थोड़ी-सी जमीन दीगई। वहीं हमने दो-एक सप्ताह में रहने के लिए एक काम-चलाऊ झोंपड़ी बनाली। मास्को निवासियों ने हमारी दिलजमई की कि मास्को में मकान-सङ्कट को देखते हुए हमारी झोंपड़ी कहीं बढ़िया थी। मैंने उनकी बात मानली और मकान को लेकर कोई तर्क-वितर्क नहीं किया। शीघ्र ही राइबिन्स्क से हमारा सामान आगया और हम उस झोंपड़ी में बसने की तैयारियां करने लगे।

एकदिन, जबकि बसन्तऋतु शुरू ही हुई थी, और घास अभी उग ही रही थी, मैंने अपने घर के फ़र्श की धुलाई करने का निश्चय किया। इसके लिए मुझे घर के सभी चूल्हे जलाने पड़े थे। हमारे पास कुल तीन कमरे थे और हर कमरे में एक बड़ा-सा चूल्हा था। एक कमरे से दूसरे कमरे में दौड़-धूप करते समय मैं एक निगाह खिड़की के बाहर भी देखती जाती थी।

मेरे पड़ौसी का घोड़ा समीप ही चर रहा था। और उसके ठीक पास मेरी ज़ेनिया खड़ी घोड़े को प्रशंसासूचक दृष्टि से देख रही थी।

ज़ेनिया को घोड़े बचपन से ही प्यारे थे। वह घोड़ा देखते ही उत्तेजित हो उठती थी। सड़क चलते यदि किसी किसान का टट्टू सिर उछाल देता तो वह रुककर चिल्ला पड़ती:

'अम्माँ अम्माँ ! ठहरो ! घोड़ा राम-राम कह रहा है।'

इस समय तो वह मारे खुशी के फूल रही थी; और, हमारे पड़ौसी का घोड़ा भी बड़ा ही सुशील और सुडौल था।

तभी एक चूल्हे में से बड़ी-सी लकड़ी बाहर आगिरी। मैं उसे ठीक से जमाने गई और दस मिनट तक मेरा ध्यान उधर ही बँटा रहा। जब सब ठीक-ठाक होगया तो मैंने फिर खिड़की के बाहर निगाह घुमाई। ज़ेनिया घोड़े की लगाम पकड़े उसे गाड़ी के पास लारही थी। उसके इरादे के सम्बन्ध में मैं किसी निश्चय पर पहुँचूँ उससे पूर्व वह गाड़ी पर चढ़ी और लपककर घोड़े की पीठपर सवार होगई। उसका चेहरा विजयदर्प से प्रफुल्लित होउठा और सिर के कटे बाल हवा में लहराने लगे।

'ज़ेनिया !' मैं चिल्ला पड़ी।

वह मुड़ी और खिड़की में मेरी झलक देखते ही उसने किलकारी लगाई और कसकर घोड़े की पीठपर चाबुक फटकारा। घोड़े ने उड़ी मारी। मैं कढ़ाई हाथ में लिये आँगन में भागी आई। लेकिन तबतक तो घोड़ा ज़ेनिया को अपनी पीठपर लिये फाटक की ओर दौड़ चुका था और वह पलक मारते ही मेरी आँखों से ओझल होगई।

मुझे तो जैसे लकवा मार गया। वहीं पत्थर की मूरत बनी खड़ी रही। बता नहीं सकती उससमय मुझपर क्या बीती ! मैंने कल्पना द्वारा ज़ेनिया के रक्तरंजित शव को कहीं दूर जङ्गलों में पड़े देखा; उसकी हड्डी-पसली टूट कर चूर-चूर होगई थी।

मैं दस मिनट तक यों ही खड़ी रही। ठीक से नहीं कह सकती कि दस मिनट खड़ी रही या पन्द्रह या बीस मिनट, मुझे तो ऐसा लग रहा था मानों एक युग ही बीत गया हो। तभी मैदान के दूसरी ओर से ज़ेनिया आती दिखाई दी। फाटक के पास उसने लगाम ढीली करदी और घोड़े ने उसे अपनी पीठ से उछालकर मेरे पाँवों में ला पटका। मैं ज्यों ही उसे उठाने के लिए झुकी वह शैतान खड़ी होगई और फिर से घोड़े पर सवार होने के विचार से फाटक पर चढ़ने लगी। वह कहती जारही थी:

'अम्माँ, फिकर की कोई बात नहीं है। मुझे ज़रा भी चोट नहीं आई है। मैं थोड़ा और घुड़सवारी करना चाहती हूँ।'

लेकिन मैंने उसे उसदिन फिर घुड़सवारी नहीं करने दी। ज़ेनिया का पशुओं के प्रति जो आकर्षण था और उस छोटी उमर में भी वह जिस निडरता से पशुओं के बीच विचरण करती थी, उसे देख मैं इस निष्कर्ष पर पहुँची कि ज़ेनिया को हटकने से कोई लाभ नहीं होगा। इसलिए उसे चकमे देने की अपेक्षा मैंने यही निश्चय किया कि उसे घोड़ों के साथ थोड़ी अधिक स्वतन्त्रता बरतने दी जाय। परन्तु साथ ही मैंने उस स्वतंत्रता को मर्यादा में ही रखने का निश्चय भी किया।

\+ \+ \+

उनदिनों, शरद्ऋतु में सर्जी आठ साल का होगया था और कतुआर के मदरसे में उसका नाम भी लिखवा दिया गया था। वह बड़ा ही प्रतिभासम्पन्न विद्यार्थी था और हमेशा अपने स्कूल में अव्वल रहने लगा था। उसके सहपाठी उससे स्नेह करते और थोड़ा भय भी खाते थे। वह स्वयं होकर तो कभी झगड़ा नहीं करता था परन्तु झगड़ा होनेपर अपना बचाव करलेता था और दूसरे लड़कों से लड़कियों की हिफाजत भी बड़ी फुर्ती से करता था। जब लेना हमारे साथ थी तभी से सेरेजा के मन में

यह विचार घर कर गया था कि लड़कियाँ कमज़ोर होती हैं और लड़कों को उनकी रक्षा करनी चाहिये।

कतुआर के मदरसे में लड़के लड़कियों की चोटी खींचना अपना अधिकार और सम्मान की बात समझते थे। ऐसे वातावरण में लड़कियों की रक्षा करने का वीरतापूर्ण विचार सेरेज़ा के मन से बहुत कुछ मिट चुका था; फिर भी वह 'छोटी महिलाओं' के साथ भद्रतापूर्ण व्यवहार करने और उनके साथ बोलने तथा खेलने में भी लज्जा का अनुभव नहीं करता था। उस मदरसे के विद्यार्थियों के नैतिक नियमों के बावजूद ऐसा करना बड़े ही साहस की बात थी।

गर्मी की मौसम आ लगी थी। हमारे घर के समीप ही एक तालाब था। सेरेज़ा स्कूल से लौटते ही, थोड़-सा नाश्ता कर, घण्टेभर के लिए मछली फँसाने चला जाता था। मैं मछली मारने से तो उसे अनुत्साहित नहीं करना चाहती थी पर मन ही मन डर लगा रहता था कि कहीं वह तालाब में न गिर पड़े। इसलिए जब कभी उसे देर होजाती तो मन ही मन कोई बहाना सोचती हुई तालाब तक दौड़ी जाती थी।

एकदिन इसीतरह जब उसे देर होगई और मैं तालाब पहुँची तो सेरेज़ा को एक दस या ग्यारह बरस की लड़की के आगे धड़ल्ले से भाषण देते सुना। लड़की नीली आँखोंवाली बड़ी ही सुन्दर बालिका थी और उसकी पीठपर चोटी की दो लटें झूल रही थीं। सेरेजा उस वक्त नौ साल का था।

सेरेज़ा अपनी बात में इतना तल्लीन होगया था कि उसे मछली द्वारा काँटा चुगने और डोर हिलने की भी सुध नहीं रह गई थी। लेक्चर झाड़ने में उसे बड़ा मज़ा आरहा था और वह लड़की भी एक टहनी हिलाती हुई मन्त्रमुग्ध-सी खड़ी उसकी बातें उत्कण्ठा से सुन रही थी।

लड़कों ने मुझे देखा नहीं।

'सेरेज़ा, मछली तुम्हारा काँटा चर गई है।'

'सच ?' उसने खोया-खोया-सा जवाब दिया और लड़की की ओर मेरा ध्यान आकर्षित करता हुआ बोला—यह मेरी मित्र है।

तभी उसे अपनी बन्सी का खयाल आया और उसने झटके से डोर खींची। लेकिन मछली तो मज़े से काँटा चरकर चलदी थी।
सेरेज़ा ने झेंपकर मेरी ओर देखा; परन्तु मैं उसकी निगाह चुका गई और ऐसा बहाना किया मानों कुछ देखा ही न हो।

वहाँ से लौटते वक्त मैंने लड़की से उसका पता-ठिकाना पूछा और यह भी पूछा कि वह हमसे मिलने क्यों नहीं आई!

उसने लाज से लाल होते हुए पूछा— और क्या तुम सेरेज़ा को मेरे घर आने देतीं?

'क्यों नहीं? आने क्यों न देती? वह तुम्हें दिक् तो नहीं करता है, नहीं न करता है?

'जी नहीं, सारे मदरसे में यही तो एक है जो हमें कभी परेशान नहीं करता।' उसने उतावलेपन से कहा, 'यह बड़ा ही अच्छा लड़का है।'

सुनकर सेरेज़ा शर्मा गया और अपनी मुस्कराहट छिपाने के लिए उसने मुँह मोड़ लिया।

घरपर उसने मुझसे पूछा:

'अम्माँ, लड़कियों से दोस्ती करने पर लड़के उसे लज्जाजनक बात कह-कर हँसी क्यों उड़ाते हैं?'

मैंने उसे समझाया कि इसमें शर्माने जैसा कुछ भी नहीं है। 'मान-लो कि कल से अपनी ज़ेनिया बड़ी होकर स्कूल जाय और वहाँ कोई लड़का दूसरों से कहे— तुम्हें इसके साथ खेलते शर्म नहीं आती? तो क्या तुम उसे ठीक कहोगे?'

सेरेज़ा कपाल में सल डालकर सोचने लगा। फिर आँखें बचाते हुए बोलाः

'लेकिन ज़ेनिया तो मेरी बहिन है...और बहिन के साथ प्रेम नहीं किया जाता।'

'प्रेम क्यों? तुमने तो 'मैत्री' शब्द का प्रयोग किया था। मैत्री और प्रेम एक ही बात नहीं है। फिर तुम अभी प्रेम नहीं कर सकते अभी तो तुम काफी छोटे हो।'

'हाँ, यही तो मैं भी कहता हूँ।' मेरी जो बात उसके विचारों का समर्थन करती थी सिर्फ उसे ही स्वीकार करता हुआ वह बोला, 'यही तो मैंने भी उनसे कहा था कि मैत्री का अर्थ प्रेम करना कभी नहीं होता है।'

× × ×

१९२९ की बसन्तऋतु में लेना हमारे पास लौट आई।

हुआ यह कि सारातोव से कुछ मित्र हमसे मिलने आये थे। उन्होंने बतलाया कि लेना के पिता की मृत्यु होगई है और वह अपनी सौतेली माँ के साथ रह रही है।

मैंने सुनते ही उसे तत्काल पत्र लिखा। उत्तर में मुझे चींटी की चाल के-से अक्षरों में लिखा एक पत्र मिला। उसमें उसने अपनी दशा का वर्णन करते हुए अन्त में पूछा थाः 'क्या मैं तुम्हारे पास आसकती हूँ?'

मुझे यह डर लगा कि साफ़-साफ़ लिखने से कहीं लेना और उसकी सौतेली माँ के आपसी सम्बन्ध बिगड़ न जायें; इसलिए उसे तरकीब से लिख दिया कि हमसे मिलने देहात चली आये।

मेरे पति का एक साथी सारातोव में काम करता था और उन्हीं दिनों मास्को आनेवाला था। हमने उसके साथ लिखा-पढ़ी की और लेना को साथ

लाने का काम उसके जिम्मे कर दिया। लेना के पहुँचने के दिन उसका भेजा फोटू साथ लेकर मैं स्टेशन गई। मैं बड़ी उत्तेजित अवस्था में थी। परन्तु पहले उसीने मुझे पहिचाना। ट्रेन से उतरते ही वह दौड़ी आकर मुझसे लिपट गई। वह बेहद दुबली-पतली होगई थी। मेरा दिल ज़ोरों से उछलने लगा। मैंने उसे चुपचाप चूम लिया।

वह मेरी बाहों से लिपटती और सन्तोष की गहरी साँस लेती हुई बोली—चलो, मैं आखिर तुम्हारे पास पहुँच ही गई।

गर्मियों तक लेना की तबियत बहुत कुछ सुधर गई। शरदऋतु भी आ लगी थी लेकिन लौटकर साराताव जाने के सम्बन्ध में किसीने एक शब्द भी नहीं कहा। पहली सितम्बर को मैंने उसे कतुआर के मदरसे में भर्ती करा दिया।

तीनों बच्चे मज़े से बढ़ रहे थे। और तो और ज़ेनिया की मनमानी भी कम होती जारही थी। उसकी बदमिज़ाजी का अन्तिम और सबसे बुरा विस्फोट लेना के लौट आने से पहले की सर्दियों में हुआ था।

झगड़े का कारण न-कुछ-सा था। ज़ेनिया कोई काम करना चाहती थी, परन्तु मैंने मना कर दिया था।

मैंने दृढ़ता से कहा—नहीं, इसका सवाल ही नहीं उठता। मैं तुझे यह काम कदापि नहीं करने दूँगी।

ज़ेनिया थोड़ी देरतक कपाल में सल डाले नाराज़ बैठी रही। फिर बोली:

'मैं चली जाऊँगी। मुझे तुम्हारे जैसी माँ नहीं चाहिये।'

'मैं ऊपर से शान्त बनी रही और बोली—तुम जाना चाहती हो? अच्छी बात है, चली जाओ। लेकिन तुम्हें अभी जाना होगा। चलो, कपड़े पहनलो।

सर्दी पड़ रही थी और समय दीया-बत्ती का होगा।

मैं उसका कोट गरमजूते, टोपी, दस्ताने आदि लेआई और उसकी गर्दन के चारों ओर मफ़लर लपेट दिया। फिर जाकर अलमारी से एक काली रोटी का टुकड़ा उठा लाई और उसपर नमक छिड़ककर उसे कागज़ में लपेट दिया। ज़ेनिया मेरी सारी तैयारियों को सन्देहात्मक दृष्टि से देखती रही। उसने पश्चाताप, विरोध या उत्तेजना का ज़रा भी भाव अपने चेहरेपर नहीं आने दिया।

कपड़े पहिनने में भी उसने किसी तरह की आनाकानी नहीं की।

मैंने रोटी का टुकड़ा उसके हाथ में पकड़ा दिया और उसे धीरे से दरवाज़े की ओर धकेल दिया।

'जाओ।'

पहलीबार उसके चेहरे पर अनिश्चय के-से भाव दिखाई दिये। उसने आँखें झुका लीं।

'मैं नहीं जाना चाहती।'

'जाओ।' मैंने दृढ़ता से कहा और दरवाज़ा खोल दिया।

वह जहाँ की तहाँ खड़ी रही।

घर में हम माँ-बेटी अकेली ही थीं।

मैं उसे सायबान तक लाई और उसका हाथ मज़बूती से पकड़े हुए उसे फाटक तक लेगई।

जब मैं दरवाज़े का कुण्डा खोल रही थी ज़ेनिया ने अपने चेहरे पर उसी दुराग्रह के भाव को बनाये रख कहा—मैं नहीं जाना चाहती।

'तुझे जाना ही होगा। चली जा यहाँ से। जाकर ढूँढ़ लेना किसी दूसरी माँ को।' मैंने बहुत धीरे-धीरे और 'दूसरी माँ' पर काफी ज़ोर देते

हुए कहा। अन्ततक मुझे आशा लगी रही कि ज़ेनिया के चेहरे पर पश्चाताप के भाव दिखलाई पड़ेंगे। लेकिन उसके अङ्ग-अङ्ग से वही पुराना दुराग्रह टपक रहा था।

वह मेरे हाथ से चिमट गई; लेकिन मैंने फुर्ती से उसे बाहर कर फाटक लगा दिया और घर की तरफ मुड़ी।

'मुझे तुम्हारे जैसी माँ नहीं चाहिये।' ज़ेनिया के ये शब्द मेरे हृदय में भाले की तरह चुभ रहे थे। क्या इसका यह मतलब था कि मैं बुरी माता थी? तो अच्छी माँ कैसी होती होगी? और क्या एक भली माँ सर्दी की रात में इसतरह पाँच साल की अपनी बच्ची को घर से निकाल देती? ओह, लेकिन मैं जानती थी कि ज़ेनिया कहीं जाने की नहीं। उसने एक भी क़दम बढ़ाया कि मैं उसे रोक लेती। कैसे रोकती सो महत्व का नहीं था। रोक अवश्य लेती। जैसे भी हो उसके उस दुराग्रह को तोड़ने का मैंने निश्चय कर लिया था।

उसे बाहर निकाल तो दिया, परन्तु मेरा दिल दुश्चिन्ताओं के मारे ज़ोरों से धड़कने लगा था।

तभी उसने सिसकते और कांपते हुए दरवाज़ा पीटना शुरू कर दिया।

'अम्माँ, अम्माँ! मैं फिर नहीं करूँगी, कभी नहीं करूँगी।'

बाहर से बिलकुल शान्त बने रहकर मैं फाटक के पास पहुँची।

'यह कौन लड़की दरवाज़ा पीट रही है?'

'अम्माँ, मैं कभी नहीं करूँगी!' ज़ेनिया का आँसू भरा नन्हा चेहरा मेरी ओर अनुनयपूर्वक ताक रहा था।

'नहीं करोगी? मगर दूसरी माँ के बारे में क्या?'

'मुझे दूसरी माँ भी नहीं चाहिये ।' उसकी सिसकियों ने अब हिचकियों का रूप लेलिया था ।

मैंने फाटक खोल दिया और वह लपककर मेरी गर्दन से झूल गई । इसीतरह आलिङ्गन में बँधी हुई हम माँ-बेटी घर में चली आईं । ज़ेनिया को दु:ख और पश्चाताप करते मैं यह पहलीबार देख रही थी । अभीतक तो उसने गुस्से, हठ और दुर्भावना के ही आँसू बहाये थे ।

'याद रखो, ज़ेनुर्का...'

लेकिन मुझे आगे कुछ कहने की ज़रूरत ही नहीं पड़ी । सबकुछ बिना कहे ही साफ़ होगया ।

खुद मेरे लिए और मेरी बेटी के लिए भी वह बहुत ही क्रूर सबक़ था । आगे अपने किसी भी बच्चे के साथ मैंने उसतरह का कड़ा तरीक़ा नहीं अपनाया था । वैज्ञानिक दृष्टिकोण से तो उससमय भी मुझे ऐसी सख्ती नहीं करना चाहिये थी । और मेरा दृढ़ विश्वास है कि दूसरे बच्चों के लिए वैसा तरीक़ा अनुपयोगी ही साबित होता । लेकिन ज़ेनिया का हद दर्जे का और अभूतपूर्व दुराग्रह तोड़ना भी आवश्यक था । और उसतरह के भयङ्कर तरीक़े पर अमल किये बिना उसे तोड़ने का और कोई रास्ता भी नहीं था ।

कतुआर के स्कूल में चार साल बिताने के बाद सेरेज़ा की बदली ओदिन्त्ज़ेव के स्कूल में करदी गई । वहाँ उसे ट्रेन से जाना पड़ता था और चलकर बोराद्की गाँव भी पार करना पड़ता था वहाँ के लड़के बड़े ही शरीर थे और मुझे सदा डर लगा रहता था कि सेरेज़ा कहीं अपने हाथ-पाँव न तुड़ा बैठे ।

तभी हमने पाया कि सेरेज़ा स्कूल से देर में घर लौटने लगा है । मैंने दो-एक बार पूछा और उसने दोनो ही बार इधर-उधर के जवाब देकर बात उड़ादी । एकबार उसने किसी दोस्त के घर मिलने जाने का, तो एकबार

अभ्यास करने के लिए सहपाठियों के साथ रुक जाने का, तो एकबार ट्रेन के 'लेट' होजाने का बहाना किया।

लेकिन उसका देर से आना इस क़दर बढ़ गया था कि मुझे उसकी किसी बात पर भरोसा ही नहीं होता था। यह विचार कि सेरेज़ा झूठ बोलने लगा है मेरे लिए काफी दुःखदायी था। मैंने उससे कईबार देर में आने का वास्तविक कारण जानना चाहा, परन्तु हरबार वह एक रहस्यपूर्ण ढंग से मुस्कराकर चुप्पी साध गया।

'अम्मां, थोड़ा ठहर जाओ। तुम्हें सबकुछ आप ही मालूम होजायगा। मैं कोई बुरा या ग़लत काम नहीं कर रहा हूँ।'

ज्यादा पीछा पकड़ना मुझे उचित न लगा। व्यक्तिगत स्वतंत्रता में मेरा ज़रूरत से ज्यादा विश्वास था और मैं उसका सम्मान भी करती थी और किसी भी शर्त पर अपने बालकों को उससे वंचित नहीं करना चाहती थी।

मैं और मेरी दोनों बेटियां अक्सर पुल तक सेरेज़ा की अगवानी के लिए जाया करती थीं। कभी-कभी हमें काफी देरतक प्रतीक्षा करना पड़ती थी। एकदिन प्रतीक्षा करते-करते जब मेरी धीरज छूट चली तभी वह आता दिखलाई दिया। मैंने पाया कि उसदिन वह काफ़ी उत्तेजित होरहा था।

'अम्मां,! बहनो! देखो। मैं क्या लाया हूँ।'

'क्या है? देखें देखें!' लेना और ज़ेनिया मारे उतावलेपन के कूदने लगीं। यह देख सेरेज़ा को ज़रा शैतानी सूझी। अपनी बहिनों को चिढ़ाता हुआ वह बोला—और जो तुम्हें न दिखलाऊँ?

भोलीभाली ज़ेनिया ने मेरा पल्ला पकड़कर आग्रहपूर्वक कहना शुरू किया—अम्मां, न हो, तुम्हीं भैया से पूछलो कि क्या है?

लेकिन लेना ने तमककर कहा—न दिखलाना चाहता है तो हमारी बला से! उठा लाया होगा कहीं का कूड़ा!

'तो ये मिज़ाज हैं तुम्हारे ? अच्छी बात है, मैं भी तुझे कुछ दिखलाने का नहीं !' सर्जी ने धमकी भरे स्वर में कहा।

कहीं भाई-बहिन झगड़ न पड़ें इसलिए मैंने बीच-बचाव करते हुए कहाः

'घर चलकर दिखलाना। मारे सर्दी के हमारे तो हाथ-पांव ही अकड़ गये हैं। चलो, जल्दी करो।'

घर पहुँचकर सर्जी ने बड़े ही गर्व से अपने दफ्तर में से एक लिपटा हुआ बराडल निकाला।

'अम्मां, इसे खोलो ! यह तुम्हारे लिए है।'

मैंने घबराते हुए बराडल खोला। उसमें से खेराद पर बने लकड़ी के कुछ खिलौने निकले।

'सेरेज़ा, ये सब तुम्हें कहां मिले ?'

'मैंने स्वयं अपने हाथों से इन्हें बनाया है।'

'हाथों से बनाया है ? क्या मतलब है ?'

'पान्या, पाशा, चुर्किन और वान्याज़ारेनी ने मुझे ये खिलौने बनाना सिखलाया है।'

ये लड़के सेरेज़ा के कतुआर स्कूल के सहपाठी थे और बोरोद्की में रहते थे। बोरोद्की में कई खेरादी रहा करते थे।

तो यह बात थी ! अब कहीं चलकर सेरेज़ा के देर से आने का कारण मेरी समझ में आया। वह खेराद चलाना सीखता था। जबतक अपने हाथों कुछ न बनाले उसने हमपर भेद प्रकट करना उचित न समझा।

पहली मर्तबा अपने हाथों उसने वे खिलौने बनाये थे।

मैंने हृदय से प्रशंसा करते हुए कहा—खिलौने तो तुमने बहुत ही अच्छे बनाये हैं। लेकिन पहले से हमें न बतलाकर तुमने बहुत बुरा किया है।

पहले बतला देते तो सम्भवतः मैं तुम्हारी कुछ सहायता ही करती। देखो न, तुम उधर सीखते रहे, मैं इधर नाहक ही तुम्हें लेकर परेशान होती रही।

सेरेज़ा ने क्षणभर के लिए मेरी ओर ध्यान से देखा, कुछ देर हिचकिचाता रहा फिर हठात् कह गया:

'अम्मा, तुम्हारे पास पच्चीस रूबल होंगे? मैं कमाकर तुम्हें लौटा दूँगा।'

'कमाकर लौटाने से क्या मतलब है? और पहले यह तो बतलाओ कि तुम्हें पच्चीस रूबल क्यों चाहिये?' मैं तो उसकी यह बात सुनकर हक्का-बक्का ही रह गई थी।

सेरेज़ा एकदम झेंप गया। पहले तो उसने अपना भेद देने से सफ़ा इन्कार कर दिया। मगर फिर बतलाया कि बोरोदूकी का एक युवक खेरादी फौज में भर्ती होकर जारहा था और उसने अपनी खेराद बेचने का निश्चय कर लिया था।

'मैं उसे खरीदना चाहता हूँ।' सेरेज़ा ने दुलराकर कहा।

मेरे पति साढ़ेतीनसौ रूबल महीना कमाते थे। फिर भी उनदिनों पच्चीस रूबल हमारे लिए बड़ी रकम थी। तो भी मैं सर्जी के साथ तत्काल खेराद देखने गई। मशीन बड़ी अच्छी थी; परन्तु हमारे हाथ में रुपए नहीं थे।

लेकिन मैंने सर्जी का उत्साह भङ्ग करना उचित न समझा और जैसे बने वैसे दूसरे दिन सवेरे तक रुपए का प्रबन्ध करने का वादा कर लिया। रात मैं अपने एक पड़ोसी से पच्चीस रूबल उधार माँग लाई। दूसरे दिन, सर्जी जैसे ही सोकर उठा, रुपए उसके हवाले कर दिये।

दूसरे दिन शाम को पान्या, वान्या, पाशा और सेरेज़ा हाँफते-काँपते सारी मशीन को उठाकर हमारे घर ले आये। हमने उसे मेरे पति के [illegible] के

कमरे में खड़ा कर दिया और अब वह कमरा एक कारखाने-सा लगने लगा था। पहले तो कमरे में खास जगह पर सेरेज़ा की सान धरी रहती थी, अब इस खराद ने कमरे का एक समूचा कोना ही घेर लिया था।

अब लकड़ी की छिल्पियाँ और बुरादा हमारे घर की साज-सजावट का का एक अविभाज्य अङ्ग ही बन गये थे। कचरा देखकर मैं बड़ी ही परेशान होती थी मगर किसीतरह बर्दाश्त करने का प्रयत्न किये जाती थी। हाँ, इतना अवश्य हुआ था कि अब सेरेज़ा स्कूल से सीधा घर ही लौटता था।

धीरे-धीरे उसने कुछ पैसा भी जमा करलिया और सबसे पहले अपना कर्ज़ चुका दिया। वह अपने पास पैसा कभी नहीं रखता था। पाई-पाई मेरे हवाले कर देता था। जहाँ से जितना कुछ मिलता, पूरे वर्णनसहित, मुझे जमा करने के लिए दे देता था।

इन्हीं दिनों अपने बोरोदकी वाले मित्रों की संगत से कबूतर पालने का नया शौक़ भी उसमें पैदा हुआ।

एकदिन उसने मुझसे कहा—अम्माँ, मैं कबूतर पालना चाहता हूँ।

'बड़ी खुशी से।'

'लेकिन क्या मैं छज्जे में कबूतरों का दड़बा भी बना सकता हूँ?'

'बना सकते हो।'

'क्या तुम तारवाली जालियाँ भी दे दोगी?'

'ज़रूर दे दूँगी।'

सेरेज़ा की खुशी का ठिकाना न रहा।

उसने बड़े ही प्यार से कहा—अम्माँ, तुम और माताओं से बिलकुल भिन्न हो। लड़के कहते हैं कि कबूतर का नाम निकलते ही उनकी माता

घुड़क देती हैं और एक तुम हो कि मुझे तारवाली जालियाँ भी खुशी-खुशी देरही हो।

अपने बेटे से यह प्रशंसा सुनकर मेरी छाती गज़भर चौड़ी होगई। मैं अपने बच्चों के लिए, सेराफिमा के शब्दों में 'सर्वसत्ताधीश' नहीं बनना चाहती थी। गुस्से के समय सेराफिमा हमारी माँ के सम्बन्ध में यही शब्द इस्तेमाल करती थी। नहीं, मैं अपने बच्चों की सच्ची माता यानी उनकी सर्वश्रेष्ठ और परमप्रिय मित्र एवं साथी बनना चाहती थी।

अब हमारे छज्जे में कबूतरों का एक दड़बा खड़ा होगया था। और जिसदिन बच्चों की छुट्टी होती छतपर कबूतरों की गटर-गूँ, बच्चों की सीटियों, दौड़-धूप और कूदा-फांदी का समाँ ही बंध जाता था।

स्कूल जाने से पहले सर्जी छज्जे की चाभी मुझे दे जाता था। उसका कड़ा आदेश था कि मैं वह चाभी वान्याज़ारेनी के सिवा और किसीको न दूँ। मैं उसके इस आदेश का पूरी निष्ठा के साथ पालन करती थी।

एकबार मैं बीमार होकर बिस्तरे में पड़ी थी। सेरेज़ा स्कूल गया हुआ था। तभी ज़ेनिया दौड़ती हुई घर में आई और बोली:

'अम्माँ, वर्दी पहने हुए तीन आदमी आये हैं और तुम्हें पूछ रहे हैं।'

'कौन हैं?'

'सो तो मैं नहीं जानती। वे कुछ नाराज़-से लग रहे हैं। सेरेज़ा और उसके कबूतरों के सम्बन्ध में कोई बात मालूम पड़ती है।'

मुझे खटका-सा लगा, लेकिन मैंने अपनी आशङ्का प्रगट न होने दी।

'अच्छा बेटी, उन्हें भीतर बुला ला।'

तीनों आदमी अन्दर आगये। वे पूरे अफ़सरी ठाठ-बाट में थे।

'क्या तुम्हारा बेटा कबूतर पालता है?'

'जी हाँ, उसके पास कई ठो हैं।'

'क्या हम उन्हें देख सकते हैं?'

मैं थोड़ा हिचकिचाई।

'बिना मालिक की परवानगी के मैं आपको उसके कबूतर कैसे दिखला सकती हूँ?'

इसपर आगन्तुकों ने बतलाया कि वे कुन्तज़ोवा से आये हैं। कुन्तज़ोवा हवाई और रसायन सुरक्षासमिति का वह विभाग था, जहाँ कबूतर पाले जाते थे। उन्होंने मुझे बतलाया कि उनके सर्वश्रेष्ठ 'उड़ाके-कबूतर' खो गये थे और पास-पड़ोस के लड़कों का कहना था कि वे सेरेज़ा के पास थे।

सुनकर मेरे गुस्से का पार न रहा।

मैंने ज़ोर देकर कहा: 'यह बिलकुल असंभव है। ये रही चाभी, जाकर अपना इत्मिनान कर लीजिये।'

मैंने उन्हें छज्जे का रास्ता बतला दिया और इस बात के लिए क्षमा चाही कि स्वयं उन्हें ऊपर नहीं ले जा सकूंगी।

पाव घण्टे में वे लोग देखभाल कर लौट आये। उनके हाथ कुछ नहीं लगा था और वे बुरीतरह झेंप गये थे।

'कहीं गलत-फहमी होगई है।' उन्होंने क्षमाप्रार्थी स्वर में कहा। हम आपसे और आपके पुत्र से क्षमा मांगते हैं। यदि आपका पुत्र कुन्तज़ोवा आकर हमसे मिले तो हमें बड़ी प्रसन्नता होगी। उसका चयन तो बड़ा ही बढ़िया है।'

जब सेरेज़ा स्कूल से लौटा तो मैंने उसे इन लोगों के सम्बन्ध में बतलाया।

उसने नाराज़ होकर कहा: 'और तुमने उन्हें ऊपर चले जाने दिया! तुमने उनका यक़ीन ही कैसे कर लिया!

मैंने अपने अभिमानी बेटे को बतलाया कि मैंने उनकी एक बात का भी विश्वास नहीं किया; और इसीलिए तो चाभी उनके आगे फेंकती थी कि देखकर इत्मिनान करलें। सुनकर वह थोड़ा शान्त हुआ और कुन्तज़ोवा जाने के लिए राज़ी भी होगया। जब वह लौटा तो बड़ा प्रसन्न था। वह समिति का मेम्बर बना लिया गया था और उसके हवाले कुछ और कबूतर और उनके खान पान और देखभाल का काम भी दिया गया था।

मेरे पति की आमदनी घरखर्च के लिए पूरी नहीं होती थी, इसलिए उन्हें ऊपर से कुछ काम करना पड़ता था। ऊपर की आमदनी भी नाकाफी होती थी इसलिए मैं स्वयं काम करने का सोचने लगी थी। लेकिन यदि मैं काम करने लगती तो बच्चों की देखभाल कौन करता?

अन्त में मैंने सफेद चूहे और 'गीनापिग' पालने का निश्चय किया। उनदिनों कई वैज्ञानिक संस्थाओं में प्रयोगों के लिए इन दोनों की बड़ी माँग थी।

बस कहने की देर थी कि काम शुरू होगया। घर के सब बच्चे इस काम में मेरी मदद करने लगे। जल्दी ही मेरे गाहक भी बंध गये; उनमें ज़ारसेविच संस्था, मेचनिकोव संस्था, मास्को की पहली स्टेट यूनिवर्सिटी और एण्डोक्रोइनोलॉजी तथा माइक्रोबायोलॉजी की केन्द्रीय संस्था के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। इस काम से हमें शीघ्र ही अच्छी-खासी आमदनी भी होने लगी थी।

और एकदिन किसी रसायनशाला से मेंढक या मेंढकियाँ तलाश करता हुआ एक आदमी भी हमारे यहाँ आया। उन्हें मेंढकों की सख्त ज़रूरत थी।

मैंने अपनी विवशता प्रदर्शित की: 'जी नहीं, मेंढक तो नहीं हैं, लेकिन यदि आप चाहें तो आती बारिश में कुछ पकड़ देंगे।

उनदिनों बड़ी तेज़ गर्मी पड़ रही थी। पाँचदिन बाद ही ज़ोरों की वर्षा हुई। बादल अभी बिखरे भी नहीं थे कि हम सड़कपर निकल आये

और पानी के डबरों को छानने लगे। सेरेज़ा, लेना और ज़ेनिया को मिला-कर पूरी पलटन ही होगई थी। बच्चे आगे-आगे थे और मैं हाथ में झोला लटकाये उनके पीछे। बच्चे बड़ी सफ़ाई से मेंढक को पकड़ते और झट से मेरे झोले में डाल देते थे।

दूसरे दिन सवेरे सर्जी पकड़े हुए मेंढकों को लेकर रसायनशाला पहुँचा। कोई सौ मेंढक हमने पकड़े होंगे और सेरेज़ा उनके बोझ के नीचे दुहरा हुआ जारहा था; परन्तु वह खुश था। हमें एक मेंढक पीछे दस कोपेक मिलनेवाले थे।

जब सर्जी लौटा तो शाम होगई थी। इसबार उसके कन्धेपर रोटियों की टोकनी थी।

उसने हमें बतलाया कि रसायनशाला में बड़े प्रेम से उसका स्वागत किया गया, परन्तु हमारे पकड़े मेंढकों में बीस ऐसे भी निकले जो उनके काम नहीं आसकते थे। उन्होंने सर्जी को दस रूबल का एक नोट दिया और वे मेंढक लौटाते हुए कहा:

'जब तुम मास्को नदी पर होकर गुजरो तो इन्हें उसमें छोड़ देना।'

सर्जी ने दो रूबल फेरने का बहुत प्रयत्न किया। लेकिन वहाँ के क्लर्क ने विरोध किया:

'नहीं-नहीं! उन्हें पकड़ने में तुम्हें मेहनत तो करना ही पड़ी है। रखलो, वह तुम्हारी मेहनत के लिए है।'

सर्जी यदि चाहता तो वे दो रूबल ऊपर ही सफा कर जाता। मानलो कि आइसक्रीम ही खा लेता, जिसका कि वह बड़ा शौकीन था। परन्तु ऐसी बेईमानी की बात कभी उसके दिमाग़ में आ ही नहीं सकती थी।

फिर भी, उसकी ईमानदारी के बावजूद, एकबार उसको लेकर बहुत ही अप्रिय प्रसंग घटा।

अगस्त लग गया था। एकदिन मैं बुरीतरह थक गई थी और मैंने ज़रा जल्दी ही सोने का निश्चय किया। दूसरे कमरे में लड़कियाँ अभी जग रही थीं। मेरी अभी झपकी ही लगी थी कि जाने किस बात ने मुझे जगा दिया। मैं अन्धेरे में कान लगाकर सुनने लगी। लड़कियों ने बत्ती बुझादी थी। बिलकुल सन्नाटा होरहा था। तब मैंने किसी चीज़ के चबाये जाने की आवाज़ सुनी।

मैंने पूछा—क्या है?

लड़कियों ने जवाब दिया—हम हैं। सेब खारही हैं। तुम्हें चाहिये?

घर में तो उसदिन सेब थे नहीं।

'नहीं, मैं तो सो गई हूँ। लेकिन तुम्हें सेब कहाँ मिले?'

'सेरेज़ा ने दिये हैं।'

'सेरेज़ा को कहाँ मिले?'

चुप्पी! मैंने फिर अपना प्रश्न दुहराया।

'मुझे नहीं मालूम।' लेना ने जवाब दिया।

'सेरेज़ा कहाँ है?'

'सो रहा है।'

'अच्छा? तुम्हें सेब देकर वह सोगया, क्यों?'

'नहीं, उसने भी भरपेट खाये और तब सोया है।'

मैंने उसे जगाया तो नहीं, परन्तु वह सब मुझे कुछ अच्छा नहीं लगा। दूसरे दिन सवेरे मैं घर के कामों में लग गई और सेबवाली घटना साफ़ ही भूल गई।

रात में मेरे पति घर लौटे और पूछा—सर्जी कहाँ है ?

'कहीं गया है। क्यों ?'

'मुझे अपना पड़ौसी चेनोव ट्रेन में मिला था। वह शिकायत कर रहा था कि रात में लड़कों का एक झुण्ड उसके बगीचे में घुस गया, और सब के सब सेव साफ़ कर गया। उसका कहना है कि हमारा सर्जी भी उनमें था। कुछ लड़के तो बागुड़ के पास खड़े थे, कुछ बागुड़ के पीछे छिपे थे लेकिन सेरेज़ा सेव के पेड़ पर चढ़ा हुआ था और टहनियाँ हिला-हिलाकर सेवा गिरा रहा था और लड़कों की ओर फेंक रहा था।'

तब मुझे पिछली रात की दावत याद आई। और यह जानकर मैं बच्चों की तरह खुश हो उठी कि मैंने चोरी के माल में हिस्सा नहीं बँटाया था।

मेरे पति ने कहा: 'तुम लड़के से कुछ मत कहना। मैं ही इस सम्बन्ध में उसके साथ बात-चीत करूँगा।'

मैंने वादा तो कर लिया, लेकिन साथ ही बड़ी बेचैन रही। बड़ी देरतक बैठी सोचती रही:

'इसे क्या कहा जाय ? बाल-सुलभ चपलता या गुण्डागिरी ?'

बाप-बेटे में जो बातें हुईं उनका आजदिन तक मुझे पता नहीं लगा। मेरे पति बड़े ही सख्त परन्तु साथ ही औचित्य का पूरा खयाल रखनेवाले पिता थे। सेरेज़ा के साथ अकसर उनकी बड़ी गम्भीर बातें होती रहती थीं। ये सब बातें बगीचे से बाहर होती थीं। बातचीत करते हुए दोनों बाप-बेटे दूर खेतों में निकल जाते थे। लेकिन जब लौटते तो दोनों, दो गहरे मित्रों की तरह हाथ में हाथ दिये होते थे।

× × ×

सर्जी पढ़ने में बुरा नहीं था। हाँ, ज़ेनिया की पढ़ाई को लेकर मुझे काफी परेशान होना पड़ता था। गणित में तो वह बहुत ही कच्ची थी। मैं

यथाशक्ति उसकी सहायता करती थी, उसके हल किये प्रश्नों को जाँच देती थी, मेरे पति भी उसकी मदद करते थे, परन्तु जहाँ गणित का नाम आया और उसे बुखार चढ़ा।

गणित की बजह से वह छहमाही परीक्षा में फेल भी होगई और उसे दुबारा उसी विषय में बैठना पड़ा।

अन्त में हम पति-पत्नी ने ज़ेनिया को गणित सिखलाने के लिए एक प्राइवेट ट्यूटर रखना तै किया।

मैंने सोचा कि अपने ही बच्चों को पढ़ाना बड़ा मुश्किल है। माँ-बाप की धौंस नहीं रहती है, बच्चे पढ़ने में लापर्वाही करते हैं और उनका ध्यान बँट जाता है।

किसी ने एक बूढ़े गणित-शिक्षक का नाम सुझाया और ज़ेनिया सप्ताह में दो दिन मास्को जाकर उनसे गणित सीखने लगी।

सबकुछ ठीक चल रहा था कि इसी बीच मुझे गणित-शिक्षक का एक पत्र मिला। उसमें लिखा था–'आपकी बेटी एक सप्ताह से नहीं आरही है।'

ज़ेनिया उससमय घरपर नहीं थी। लौटनेपर मैंने उससे पूछा:

'बेटी, आज तूने क्या सीखा?'

पहले तो वह थोड़ा हिचकिचाई, फिर बोली:

'बटे।'

'और पिछलीबार?'

'उससमय भी बटे ही सीखे थे।'

'हूँ, और उससे पहले?'

वह चुप।

अब मैंने कहा: 'ज़ेनिउरा ! तूने पढ़ने जाना बन्द क्यों कर दिया है ?'

वह तो फूट-फूटकर रोने लगी और मेरा उसे चुपाना मुश्किल होगया। वह मुझसे अपना बदन सहलाती हुई हिचकियों में बोली:

'मैं उसके यहाँ पढ़ने नहीं जाऊँगी। वह सिखाता तो कुछ नहीं है केवल डाँट-डपट करता और चिल्लाता है। मुझसे कहता है कि जा गोबर पाथ, गोबर।'

और वह फिर फूट-फूटकर रोने लगी।

मैं समझ गई कि उसे गहरा आघात लगा है। धीरे-धीरे, बड़ी ही होशियारी से मैंने सारी बातें मालूम करलीं। एकदिन शिक्षक ने उसे खिड़की से बाहर देखते पकड़ लिया और फटकारा:

'वहाँ क्या देख रही है ? भेड़ें तो नहीं गिन रही ?'

'जी नहीं, भेड़ें तो नहीं है। घोड़ा है और वह भड़क गया है।' ज़ेनिया ने सीधेपन से जवाब दिया।

शिक्षक ने गुस्सा होकर कहा—क्यों, मेरे पढ़ाने से घोड़ा ज्यादा महत्व का होगया ?

'जी हाँ।' ज़ेनिया ने भी तेज़ होकर जवाब दिया।

उस वक्त तो शिक्षक कुछ न बोला लेकिन उसीदिन जब ज़ेनिया की समझ में एक सवाल न आया तो उसने किताब फेंक दी और धुआँ-फुआँ होकर चिल्लाने लगा:

'तेरे दिमाग में तो गोबर भरा है। जाकर गायें चरा और गोबर पाथ !'

हमने वह शिक्षक छुड़ाकर दूसरा लगा दिया और वह शीघ्र ही गणित में पक्की होगई।

बच्चों को घर के लिए जो अभ्यास दिया जाता था मैं उसके प्रति काफी सतर्क रहा करती थी।

हमारे घर का नियम था: स्कूल से घर आओ, नाश्ता करो और फिर तुम्हारी छुट्टी--चाहे खेलो, चाहे घूमने जाओ, चाहे सिर के बल खड़े हो! लेकिन ठीक पांच बजे पढ़ने बैठ जाओ।

तीनों बच्चों के लिए कमरे के तीन कोने अलग-अलग नियत थे। पांच बजेतक मैं भी घर-गिरस्ती के कामों से छुट्टी पा जाती और कोई पुस्तक या बुनाई का काम लेकर अपने कोने में बैठ जाती थी।

कभी-कभी ज़ेनिया टेबल के सामने किताब खोलकर बैठ जाती और अभ्यास करने का ढोंग करती थी। लेकिन दूर से ही दिख जाता था कि उसके आगे खुली किताब पाठ्यपुस्तक नहीं है।

'ज़ेनिया, यह किताब बन्द करो और अपना अभ्यास शुरू करो।' मैं धीरे से कहती ताकि दूसरों के अध्ययन में विघ्न न पड़े।

'अभी एक मिनट में।'

लेकिन पांच मिनट होजाते और वह पढ़ती ही रहती।

'ज़ेनिया!'

'हां, मां! अभी एक मिनट में।'

मैं कुछ देर प्रतीक्षा करती; फिर उठकर चुपचाप उसके हाथ से किताब छीन लेती और अपनी जगह आ बैठती। ज़ेनिया मुँह बनाती, लेकिन मैं उसकी ओर कोई ध्यान नहीं देती थी। मुँह बनाये या मुँह बिगाड़े, मेरी बला से! और तब वह अभ्यास करने बैठ जाती थी।

उन दिनों मदरसों में होनेवाली अभिभावकों की सभाओं में भी मैं नियमितरूप से जाया करती थी। परन्तु उनदिनों स्कूलों का प्रबन्ध उतना

अच्छा नहीं था, जितना कि आज है। और अभिभावकों की सभाएं तो मुझे थका ही मारती थीं। महज़ समय की बर्बादी होती थी। शिक्षक नियम-कानून की ज़रा भी पर्वाह नहीं करते थे। कोई उनसे कुछ पूछनेवाला भी नहीं था। स्कूल का सारा प्रबन्ध उन्हीं के जिम्मे छोड़ा हुआ था। मैं घण्टों उनसे बहस करती और उन्हें उनके मूर्खतापूर्ण सिद्धान्तों की हानियाँ बतलाने का प्रयत्न करती थी; परन्तु मेरे सारे प्रयत्न चिकने घड़ेपर पानी के समान थे। और, मैं अकेली कुछ कर भी नहीं सकती थी। उल्टे, शिक्षक मेरी मज़ाक उड़ाते और उन्होंने मुझे 'चक्रम' तथा 'हस्तक्षेप करनेवाली' माता की उपाधि ही देडाली थी। सच पूछो तो उनदिनों के मदरसों पर मेरा ज़रा भी विश्वास नहीं था। इसलिए, बच्चों की घर की पढ़ाई पर ही मैं ज्यादा ध्यान देती थी।

चौथा परिच्छेद

अब मैं एक ऐसी घटना का वर्णन करूँगी जिसने मुझपर अपनी अमिट छाप छोड़ी है।

एकदिन, जबकि सेरेज़ा नौ वर्ष का होगया था, वह स्कूल से लौटा और रोटा खाते हुए बिना किसी पूर्व भूमिका के बोला:

'अम्म', लड़के कहते हैं कि मैं तुम्हारे पेट का बेटा नहीं हूँ।'

मेरी ऊपर की साँस ऊपर और नीचे की नीचे रह गई! 'हाय राम, शुरू हो ही गया है।' और लगा जैसे किसीने मेरी छाती में कसकर घूँसा मार दिया हो। परन्तु मैंने इस प्रसङ्ग को जितने दिन टाला जा-सकता था, टालने का निश्चय कर लिया था, इसलिए, जितना शान्त रह सकती थी उतनी शान्ति से बोली:

'सो कैसे?'

सेरेज़ा ने पूर्ववत् लापर्वाही से कहा—देखो न, मेरे सिर के बाल और आँखें भूरी हैं, जबकि तुम और पिताजी साँवले हो।

अब कहीं मेरे जी में जी आया और मैं बोली—पगला कहीं का! माँ-बाप के बालों की रङ्गत से इसका क्या सम्बन्ध है?

और मैंने अपने उन पड़ौसियों के उदाहरण दिये, जिनका रङ्ग अपने बच्चों से मेल नहीं खाता था। परन्तु सेरेज़ा का ध्यान कहीं और बँट चुका था।

वह बगीचे में जाते हुए कहता गया—यही बात तो मैंने भी उनसे कही।

उसदिन के बाद वह प्रसङ्ग कभी नहीं छिड़ा, परन्तु मेरे मन में निरन्तर खुटका लगा ही रहा।

हमारे दिन एक बँधे-सधे ढङ्ग से बीते जारहे थे। मेरे पति रोज़ सवेरे उठकर मास्को चले जाते थे। मैं सर्दियों में साढ़ेपाँच बजे और गर्मियों में ज़रा जल्दी उठती थी।

अब हमारे घर में चार कमरे होगये थे—एक सोने का कमरा, दूसरा खाने का कमरा, तीसरा बच्चों का कमरा और चौथा मेरे पति का अध्ययन-कक्ष, जिसे हम गरम नहीं करते थे और जो नया ही बनाया गया था। मेरे पति के अध्ययनकक्ष में ही सेरेज़ा का कारखाना यानी उसकी खेराद, सान और जिल्दसाज़ी की मशीन भी थी।

जिल्दसाजी सेरेज़ा ने मदरसे में सीखी थी। वह बड़े उत्साह से जिल्दसाजी का काम करता था और हमारे पड़ोसियों की पुस्तकों और संगीत के फर्मों की जिल्दें बाँधकर हारे-गाढ़े में थोड़ीबहुत आमदनी भी कर लेता था।

हमारा घर काफ़ी ठण्डा रहता था। हम जङ्गल जाकर लकड़ी काट लाते थे और फिर स्वयं ही उसे चीरते भी थे। लेना और सेरेज़ा इस काम में हिस्सा बँटाते थे लेकिन नन्हीं ज़ेनिया की 'लकड़ी कटाई' से छुट्टी थी।

सुबह उठते ही सबसे पहले मैं स्टोव सुलगा देती थी। एक स्टोव बच्चों के कमरे में था और दूसरा सोने के कमरे में। बच्चों के कमरेवाले चूल्हे पर मैं दूध चढ़ाती थी और सोनेवाले कमरे के चूल्हे पर कॉफी रख देती थी। जबतक दूध-कॉफी तैयार होती थी तबतक दोनों कमरे भी गरम होजाते थे।

फिर मैं अपने पति को जगाती थी। उन्हें पौनेसात की गाड़ी से जाना पड़ता था क्योंकि स्टेशन से हमारा घर पूरे डेढ़मील के फासले पर था।

बच्चे आपही जग जाते थे। उन्हें नौबजे के लगभग स्कूल में हाजिर होना पड़ता था।

हमारे दिन बड़ी ही ग़रीबी में बीत रहे थे। दोनो बड़े बच्चों के बीच सिर्फ एक-जोड़ी चमड़े के जूते और एक जोड़ी फेल्ट जूते (नमदे के बने गरम जूते) थे। इसलिए जाड़े-पाले या बारिश के दिन लेना या सेरेज़ा में से सिर्फ एक ही बच्चा स्कूल जा पाता था।

घर में बच्चे मोजड़ियाँ पहिनते थे, जो उन्होंने स्वयं खरगोश के चमड़ों की बनाली थीं।

उनदिनों खरगोश पालने का बड़ा रिवाज़ था। हमने भी कुछ खरगोश पाले थे। लेकिन उनसे आराम मिलने की अपेक्षा कष्ट ही अधिक होता था। वे अकसर मर जाते थे और बच्चे रोने लगते थे।

जब बच्चे भी स्कूल चले जाते तो मैं घर की सफ़ाई करती और खाना पकाती थी। वक्त जाते देर न लगती थी। एक-एक कर बाहर गये लोग लौटने लगते थे। सबसे पहले ज़ेनिया दौड़ी आती थी। उसके बाद ओदिन्त्ज़ेव के स्कूल से सेरेज़ा और लेना लौटकर आते थे।

शाम को हम बच्चों के कमरे में अँगीठी और खाने के कमरे में अलाव जलाते थे। बच्चे अध्ययन करते थे और मैं पढ़ती, कपड़ों की मरम्मत या बुनाई करती थी। फिर मेरे पति लौट आते थे। इससमय तक बच्चे अपना घर का अभ्यास पुरा कर लेते थे। वे अपनी किताबें, कापियाँ और कलम-दान बन्द कर उन्हें अपने दफ्तर में रख देते थे।

कभी-कभी रात में मैं और मेरे पति बच्चों को कहानियाँ भी सुनाते थे; और दस बजेतक बच्चे सो जाते थे।

सोने से पहले सर्जी अपनी बहिनों को एक लम्बी-सी कहानी सुनाता था। उसकी कल्पना की उड़ान बड़ी दूर की थी। उसकी सबसे प्रिय

आकांक्षा ध्रुवसागर जाकर रीछों का शिकार करने की थी। ध्रुवसागर के सम्बन्ध में वह अपनी बहिनों को कई अनोखी बातें सुनाता था—लोमड़ियाँ फँसाने के लिए किसतरह के जाल और फन्दे लगाने पड़ते हैं और चिड़ियों को किसतरह मारा जाता है आदि बड़े ही रोचक ढङ्ग से कहता था।

इन बाल-कल्पनाओं में मैं कभी हस्तक्षेप नहीं करती थी। कल्पना-प्रधान होना बालकों के भावी विकास में बड़ा सहायक होता है और मुझे इस बात की खुशी थी कि मेरे बच्चे कल्पना की लम्बी उड़ानें भरते हैं।

सर्जी के पास नानसेन की लिखी एक यात्रा पुस्तक थी। वह इस पुस्तक को बड़ी लगन से पढ़ा करता था। उसने पचासों बार पूरी किताब पढ़डाली थी और अपनी बहिनों को भी इस किताब की कहानियाँ सुनाता था। कभी-कभी, झूठ-मूठ के खेलों में तीनों बच्चे बड़े ही साहसपूर्ण खेल खेलते थे और उन्हें उन खेलों में आनन्द भी खूब आता था।

मेरे पति, कमरे को दो हिस्सों में बाँटने वाली लकड़ी की दीवार के इसपार से, बच्चों की तेज़तर्रार बातें सुनकर कहते थे—हमारा सर्जी एकबार फिर उत्तरी ध्रुव का चक्कर लगा आया है!

उनदिनों सर्जी को शिकार का जो शौक चर्राया था वह सिर्फ कहानियाँ कह सुनकर और शिकार के झूठे खेलखेलकर ही सन्तुष्ट नहीं हुआ। वह सचमुच का शिकार खेलने लगा था, जिसका मुझे अकस्मात् ही पता लगा।

एकदिन मैं और लेना अपने घर के पास जङ्गल में योंही चहलकदमी कर रही थीं कि मेरा पाँव एक जाल में उलझ गया।

मैंने साश्चर्य कहा—यह जाल यहाँ कहाँ से आगई?

लेना ने कोई जवाब नहीं दिया।

हम थोड़ा आगे बढ़ीं। पहले फन्दे से ठीक मिलता-जुलता दूसरा फन्दा दिखलाई दिया। और जैसे-जैसे आगे बढ़ती गईं और भी फन्दे मिलते गये।

'यह क्या है ?'

लेना का मारे हँसी के दम फूलने लगा था ।

'लेना. तुझे मालूम है ! तो बतला न, बिटिया ।'

लेना खिलखिलाकर हँस पड़ी लेकिन कुछ बतलाने से उसने इन्कार कर दिया ।

'लेनोच्का, तुझे बतलाना ही होगा ।'

मैं जानने के लिए बेताब हो उठी थी ।

अन्त में लेना ने खिलखिलाते हुए कहा: 'अम्माँ. सेरेज़ा ने जाल बिछा रखे हैं । उससे कहीं कह मत देना कि मैंने बतलाया है । नहीं, तो वह मुझे जिन्दा नहीं छोड़ेगा ।

'पर जाल बिछाये क्यों हैं ?'

'वाह, इतना भी नहीं मालूम !' उसने अचरज प्रगट करते हुए कहा । 'ये जाल उसने छछूँदर फँसाने के लिए लगाये हैं । शहर में उसने किसी को छछूँदर की खाल का कालर पहने देखा था । तभी से उसे धुन सवार हुई है कि तुम्हारे लिए छछूँदर का कालर बनाएगा । इसीलिए जाल लगा रखे हैं । भाई साहब का खयाल है कि वह बड़े ही कुशल बहेलिये हैं । लेकिन छछूँदरों का कुछ और ही खयाल है । वे उनके फन्दे को सूँघती तक नहीं । सीधे निकल जाती हैं ।'

और वह फिर हो-होकर हँसने लगी ।

वास्तव में सारी बात बड़ी ही मज़ेदार लगती थी, परन्तु फिर भी मैं गद्गद् होगई ।

'अच्छा, उसे ये फन्दे कहाँ मिले ?'

'जिल्दसाज़ी के काम से जो पैसे मिले थे उन्हीं से बाज़ार जाकर खरीद लाया है ।'

लेना का कहना बिलकुल ठीक था । सेरेज़ा के फन्दों में छछूँदर फँस नहीं रहे थे । पूरे एकसप्ताह में, चालीस फन्दों में, कहीं दो छछूँदर फँसे थे । ऐसे तो एक कालर के लिए दस साल में भी छछूँदर पूरे न होते ।

सेरेज़ा इस असफलता से बड़ा ही विक्षुब्ध हुआ, लेकिन उसने किसी से कुछ कहा नहीं । जब उसके आधे से ज्यादा फन्दे चोरी चले गये तो उसने जाल लगाना बन्द कर दिया और मन मसोसकर बाक़ी बचे फन्दों को छज्जे में लेजाकर पटक दिया ।

× × ×

कतुआर आने के दिन से ही हम एक गैया पालने की बात सोच रहे थे । ऊपर जिन घटनाओं का वर्णन कर आई हूँ उनसे एकसाल पहले की बात है । हमने ढाईसौ रूबल बचा लिये थे और उतनी ही रक़म अपने मित्रों से उधार लेकर अन्त में हम एक सलोनी गाय ले आये । जिसदिन गाय घर आई हमारी खुशी का ठिकाना नहीं रहा ।

हम सब मिलकर उसकी सार-सँभाल करते थे । गाय बड़ी साफ़ सूफ और हृष्ट-पुष्ट थी । उसके कपाल पर एक सफेद चाँदला था और इसलिए हम उसे 'भूरी' कहकर पुकारने लगे थे । हमारी 'भूरी' गाभिन थी । शीघ्र ही उसे बछड़ा होगा, इस खयाल से हमने उसकी सार-सँभाल दुगुनी करदी थी ।

लेकिन एकदिन भूरी खो गई । मैं तो सौदा लाने शहर गई थी और मेरे पति अपने काम पर गये हुए थे । घरपर केवल ज़ेनिया रह गई थी । जब वह गाय के औसारे से निकली तो फाटक बन्द करना भूल गई । भूरी बाहर निकल गई और भटक गई ।

मैंने ग्रामपंचायत (ग्राम सोवियत) में जाकर गाय के खोने की शिकायत लिखवा दी । चौबीस घण्टेतक तो कोई पता न चला । फिर हमें

सूचना दी गई कि सम्मिलित खेती के कुछ किसानों को जंगल में भटकती हुई एक गाय मिली है और वे उसे पकड़कर अपने खलिहान में ले गये हैं। खेत का मालूम होते ही मैं और सेरेज़ा अपनी भूरी की तलाश में चल दिये।

वह दिन मुझे आज भी अच्छी तरह याद है। खेत हमारे घर से आठेक मील के फासले पर था। कड़ाके का जाड़ा पड़ रहा था और भूख से हमारी अँतड़ियाँ कुलमुलाने लगी थीं।

खेत का अध्यक्ष कहीं बाहर गया हुआ था। उसकी जगह मुक़ादम आया और कोई घण्टेभरतक खेत के कानून-कायदों का पचड़ा गाता रहा। अन्त में उसने बड़े ही दुःख से कहा—लगता है कि गाय लौटाना ही पड़ेगी। चलो, खलिहान चलें। तुम अपनी गाय पहिचान तो लोगी?

'वह खड़ी है वहाँ!' सेरेज़ा ने दूर से ही भूरी को पहिचान लिया और उसकी दिशा में लपका।

उन्होंने भूरी को खलिहान से बाहर निकाला। अपनी गाय को देखते ही मेरी और सेरेज़ा की खुशी का ठिकाना न रहा।

सर्जी बोला: 'अब मेहरबानी कर हमें झट से एक रस्सी ला दीजिये।'

मुक़ादम ने बड़े ही इत्मिनान के साथ कहा: 'जी हाँ, रस्सी भी आपको दे दी जायेगी। परन्तु सबसे पहले आपको गाय के बाँटे-चारे का दाम चुकाना पड़ेगा।'

हम एक दूसरे का मुँह ताकने लगे।

मैंने धड़कते हुए दिल से पूछा 'कितना होगा?' क्योंकि उससमय मेरे पास सिर्फ़ दसरूबल का एक नोट था।

मुक़ादम ने अँगुलियों पर हिसाब गिना, मन ही मन कुछ बुदबुदाया, सायंकालीन आकाश की ओर एक उड़ती निगाह डाली और बड़े ही कामकाजी स्वर में बोला—'दस रूबल।'

मैंने झट से रुपए चुका दिये। सर्जी ने गाय के सींग में रस्सी बाँधी और उसे लेकर हम घर की ओर रवाना हुए।

अन्धेरा होरहा था। हम एक बर्फीले खेत से होकर गुजरे। भूरी की खासी मुसीबत थी। बेचारी के पाँव घुटनों-घुटनों तक बर्फ में धँस जाते थे। रास्ते में हमें एक बर्फ से जमा नाला पार करना था। नाले का एक जगह का बर्फ़ कुछ कमज़ोर था और भूरी उस बर्फीले पानी में छाती तक गहरी धँस गई।

मैं आगे से रस्सा खींचने और उसे पुचकारने लगी। लेकिन भूरी ने अपनी बड़ी-बड़ी उदास आँखें मेरी ओर घुमादीं। बर्फ़ से निकलना उसके बस का नहीं था। सेरेज़ा रास्ता देखने आगे चला गया था। उसने मुड़-कर मुझसे कहा:

'अम्माँ, रुकना ज़रा। मैं अभी लौटकर आता हूँ।'

थोड़ी ही देर में वह लौट आया और लेटकर अपने शरीर से बर्फ़ की भुरभुरी सतह को दबाने लगा। उसके बाद दबी हुई बर्फ़ पर बछड़े की तरह लोटने लगा।

'बेटा, तुझे ठण्ड लग जायगी।' मैंने अनुनय के स्वर में कहा।

'ठण्ड-वण्ड कुछ नहीं लगेगी, अम्माँ!' यह कहकर वह खड़ा होगया और अब उस रास्ते को अपने पाँव से दबाने लगा। वह उससमय एक समझदार वयस्क की तरह व्यवहार कर रहा था। यह देख गाय को हाँकने का काम मैंने अपने जिम्मे लेलिया।

जब हम घर पहुँचे, रात काफी भीग चुकी थी।

लेना और ज़ेनिया बिस्तरों पर बैठी हमारी प्रतीक्षा कर रही थीं।

'भूरी आगई! भूरी आगई!' ज़ेनिया खुशी के मारे चिल्ला उठी। आन्तरिक प्रसन्नता से उसके नेत्र इसतरह चमक रहे थे कि बसचला,

सदा भावनाशून्य रहनेवाली, मेरी बिटिया को पहचान पाना स्वयं मेरे लिए भी कठिन होगया।

हम दिन उगने तक सूरी को लेकर व्यस्त रहे। वह जूड़ी के बुखार की तरह थर-थर काँप रही थी और बच्चे सारी रात उसे अपने कोट ओढ़ाते रहे थे।

× × ×

जब बसन्तऋतु आई तो हमने अपनी बाड़ी को बढ़ाने का विचार किया। हम उसमें ककड़ियाँ, गाजर, चुकन्दर और प्याज बोते थे। अब मैंने आलू और टमाटर और बोने तथा ककड़ी, गाजर और प्याज की कुछ क्यारियाँ और बढ़ाने का निश्चय किया। बाड़ी बढ़ाने के इरादे से उस साल हेमन्त ऋतु में बीज खरीदने के लिए मुझे कईबार मास्को जाना पड़ा था।

एक शाम मैं सातबजे के लगभग ऐसी ही एक यात्रा से घर लौटी। अन्धेरा होगया और जैसे ही मैं फाटक में घुसी, मैंने, भोजनगृह की खिड़की की राह, एक बड़ा ही अजीब दृश्य देखा। सर्जी और लेना खाने की टेबल के आगे बैठे थे और ज़िनिया उनसे कुछ दूर बैठी रो रही थी,

मैंने कपड़े भी नहीं उतारे और सीधे उसके पास पहुँची। मेरा खयाल हुआ कि बड़े बच्चों ने उसे नाराज़ कर दिया होगा। ऐसे मौक़ों पर ज़िनिया दौड़कर मेरे पास आजाती थी; परन्तु आज वह अपनी जगह से हिली तक नहीं। जब मैंने उसे गोद में लेना चाहा तो उसने मुझे परे धकेल दिया और दांत भींचकर रोती हुई कहने लगी:

'मुझे अकेली छोड़ दो। तुम मेरी सगी मां नहीं हो।'

मैंने बड़े बच्चों की ओर देखा।

लेना के गाल लाल होरहे थे और वह बड़ी ही कुपितदृष्टि से मेरी ओर देख रही थी। सर्जी अपना सिर झुकाये चुप बैठा था।

'हुआ क्या ?' किसीतरह अपने पर काबू पाते हुए मैंने पूछा।

लेना ने जवाब देने के लिए मुँह खोला ही था कि जाने क्या सोच-कर चुप होगई और मेज़ के आगे से कूद पड़ी। कूदने में उसकी कुर्सी उलट गई, लेकिन किसीने उस ओर ध्यान नहीं दिया। सर्जी उसीतरह घुटनों में सिर गड़ाये चुप बैठा रहा। सिर्फ ज़ेनिया अपनी बड़ी-बड़ी आँखें मुझपर जमाये यन्त्रवत् कहती जारही थी:

'मेरी सगी माँ नहीं है... मेरी सगी माँ नहीं है!'

मैं अपने बच्चों को उनके जन्म के सम्बन्ध में कुछ भी बतलाना नहीं चाहती थी; परन्तु अब चूँकि बात उन्हें मालूम हो ही गई थी, इसलिए, उन्हें सबकुछ कह देना ही मैंने उचित समझा।

मैंने दुबारा पूछा: 'पर यह तो कहो कि बात क्या है?'

और थोड़ी ही देर में मुझे सबकुछ मालूम होगया।

जब कभी मेरे पति घर नहीं रहते थे तो बच्चों में से कोई एक रात में हमारे सोने के कमरे में आजाता था। बच्चे इसे विशेष सम्मान की बात समझते थे। उस रात, मेरी प्रतीक्षा करते हुए, उनमें बहस छिड़ गई कि पिताजी के बिस्तर में कौन सोयेगा? लेना बड़े ही गर्म मिज़ाज़ की लड़की थी और उसने तैश में आकर हठ पकड़ लिया कि पिताजी के बिस्तर में सोने का अधिकार उसीको है।

जब इस बात को लेकर झगड़ा बढ़ गया तो सेरेज़ा ने उसे डाँटते हुए कहा 'तू चुप भी रह! आई बड़ी पिताजी के बिस्तर में सोने वाली! तुझे इस सम्बन्ध में बोलने का हक़ ही क्या है? अम्माँ हमारी है। तेरी माँ तो दूसरी है--वह तेरी सौतेली माँ! जाकर सो उसके पास!'

'तो अम्माँ तो तुम्हारी भी नहीं।' लेना ने चिल्लाकर कहा। 'उसपर मेरा भी उतना ही हक़ है जितना कि तुम्हारा।'

'अच्छा, विश्वास नहीं होता ? तो लो; कान खोलकर सुनलो। देख रे सेरेज़ा, तुझे तो एक अन्धे भिखारी से लिया था और जेड्डा, तुझे अनाथा-लय से माँग लाये थे। जब मैं मारातोव में थी तो मेरी सौतेली माँ ने मुझे सबकुछ बतला दिया था। इसलिए अम्माँ अगर मेरी माँ नहीं है तो वह तुम्हारी भी नहीं है। माँ पर हम सबका समान अधिकार है, समझे।'

लेना ने सोचा था कि यह कहकर वह जीत जायेगी; परन्तु परिणाम उसकी आशा के सर्वथा प्रतिकूल ही हुआ। सेरेज़ा उसे घूँसों से पीटने लगा और ज़ेनिया रोने लगी।

सेरेज़ा का गुस्सा तो थोड़ी देर में उतर गया। या तो उसे स्कूल वाली वह पुरानी बात याद हो आई थी या विगत बचपन की कोई सोई स्मृति उसके दिमाग़ में उभर आई थी। जो हो, वह विचारों में खो गया था। सिर्फ ज़ेनिया फूट-फूट कर रोती और चिल्लाती जाती थी।

मैं अन्दर ही अन्दर समझ उठी। 'उनकी सगी माँ नहीं थी!' और खुद मेरा क्या हाल था? मेरी तो अपनी सगी माँ थी, फिर भी मुझे कभी माँ का प्यार नहीं मिला। सीमा मौसी के घर में अनाथ की तरह पलकर बड़ी हुई! यदि अपनी सगी माँ के बदले मुझे दूसरी दयावती और स्नेहशील माँ मिलती तो क्या मैं खुशी-खुशी उसे बदलने के लिए तैयार न हो जाती?

'अच्छी बात है!' मैंने कहना शुरू किया, 'मानलो, कि मैं तुम्हारी सगी माँ नहीं हूँ...तो उसमें तुम्हारा क्या नुक़सान है? क्या दूसरे बच्चों की अपेक्षा तुम कम प्यार किये जाते हो? क्या तुम्हारी ओर कम ध्यान दिया जाता है? क्या तुम्हारे साथ स्नेह-शून्य व्यवहार होता है? कई माँ-बाप तो अपने बच्चों को पीटते भी हैं—क्या मैं तुम्हें कोई तकलीफ देती हूँ?'

मेरे विचार बिलकुल साफ़ नहीं थे। सिर में विचारों का अन्धड़-सा उठ रहा था। परन्तु मैं बहुत ही धीरे-धीरे शान्तिपूर्वक और अपने शब्दों

मैं उनका समाधान करती हुई, उनके दुःखी दिलों पर मरहम-सा लगाती हुई, बोल रही थी। वे कुछ नाराज़ी और कुछ सन्देह के-से भाव से, सुनने लगे। धीरे-धीरे मेरी बातों का असर होरहा था। ज़ेनिया के आँसू सूख गये थे। लेना के गालों की रङ्गत अपने प्राकृतरूप में लौट गई थी। सेरेज़ा के कपाल में पड़ी सिलवटें भी मिट गई थीं।

थोड़ी देर बाद सेरेज़ा निश्चयात्मक ढङ्ग से उठा और मेज़ को अपनी हथेली से पीट कर बोला: 'यह तुमने क्या गड़बड़ मचा रखी है? बहुत हुआ, अब चुप करो! इस चर्चा को अब यहीं बन्द किया जाय। सगी या सौतेली—वह हमारी माँ है। चलो, चाय पीयें।

उसने 'हमारी' शब्द पर काफी ज़ोर दिया था।

और पलक मारते सबकुछ निपट गया। सभी अपने-अपने काम में लग गये। लेना उठकर मेरे झोले से रोटी निकाल लाई। ज़ेना ने मेज़ लगादी। पन्द्रह मिनट में तो हम शान्ति से बैठे चाय पी रहे थे। उससमय दुनिया का बड़े से बड़ा मनोवैज्ञानिक भी हमें देखकर यह नहीं कह सकता था कि अभी कुछ मिनट पहले हम भीषणतम मनोवैज्ञानिक घात-प्रतिघात के थपेड़े खा रहे थे।

इस घटना के सम्बन्ध में इतना और कहदूँ कि थोड़े दिनों बाद बच्चों ने अपने जन्म और हमारे यहाँ आने के सम्बन्ध में विस्तृत वृत्तान्त जानना चाहा। मैंने उन्हें सबकुछ सच-सच बतला दिया। और उन्होंने सारी कहानी दम साधकर सुनी। कुछ समय बाद उन्हें मेरे बचपन के सम्बन्ध में भी सारी बातें मालूम होगईं। लेकिन उस साँझ इस सम्बन्ध में एक भी शब्द नहीं कहा गया। और, मेरी गृहस्थी चौपट होते-होते बच गई!

खास अन्देशा मुझे सेरेज़ा की ओर से ही था। वही सब बच्चों में बड़ा और समझदार था और मैं डर रही थी कि कहीं इस जानकारी का उस पर कोई बुरा परिणाम न हो। अपने जन्म के सम्बन्ध में वास्तविक बात

जानने पर मेरी जो दशा हुई थी वह भी मुझे याद थी ! लेकिन साथ ही मैंने महसूस किया कि वह जमाना ही कुछ और था और जिन परिस्थितियों में मुझे बात मालूम हुई थी वे भी आज की परिस्थितियों से सर्वथा भिन्न थीं ।

और. उसी रात मुझे इस बात का विश्वास होगया कि सर्जी के मन में मेरा सम्मान वैसा ही अक्षुण्ण बना है ।

उधर कुछ दिनों से हमारी बस्ती में चोरी की वारदातें होने लगी थीं । हमने अपने दो-चार पड़ोसियों के लुटने की अफवाहें भी सुनी थीं । इसलिए मेरे पति बाहर जाते समय सेरेज़ा को राइफल देकर कह जाते थे:

'देखना बेटा, होशियारी से रहना : घर में तू ही अकेला मर्द है ।'

रात में जैसे ही कुत्ता भौंकता, सेरेज़ा बन्दूक लेकर आँगन में निकल आता और चिल्लाकर पूछता: 'कौन है ?'

जवाब तो कुछ नहीं मिलता, फिर भी वह हवा में फैर कर देता । और बन्दूक की आवाज़ सुनकर मैं सोचती: 'मेरा सर्जी अब आदमी हुआ जारहा है ।'

उस रात तीनों बच्चे मेरे ही शयन-कक्ष में सोये । वे तो खर्राटे भरने लगे; परन्तु मुझे बड़ी देरतक नींद नहीं आई । मैं बिस्तरे में पड़ी शाम की घटनाओं को लेकर काफी रात बीतेतक उधेड़-बुन करती रही ।

तभी एकाएक कुत्ता भौंकने लगा । सेरेज़ा ने करवट बदली परन्तु उठा नहीं । कुत्ता फिर दुबारा भौंका । इस डर से कि कुत्ता कहीं सर्जी को जगा न दे मैं फुर्ती से उठी, राइफल ली और कन्धे पर कोट डालकर बरामदे में निकल आई और सीढ़ियों पर खड़े होकर पूछा:

'कौन है ?'

कुत्ता बेतहाशा भौंक रहा था ।

'एक फ़ैर कर ही दूँ !' मैंने मन ही मन सोचा लेकिन मैंने बन्दूक नहीं छोड़ी । उसी समय सेरेज़ा मेरे समीप आ खड़ा हुआ ।

उसने काँपती हुई तेज़ आवाज़ में डपटकर पूछा: 'क्या बात है ? कौन है ? अम्माँ, मैं आगया हूँ ।'

और उसने बन्दूक मुझसे ले ली । फिर चेतावनी देकर बोला: 'बोलो ! नहीं तो बन्दूक छोड़ता हूँ ।' यह कहकर उसने आसमान में फ़ैर कर दिया । बिलकुल सन्नाटा होगया । हम थोड़ी देरतक चुप लगाये खड़े रहे ।

फिर उसने बड़े स्नेह से कहा: 'अम्माँ, चलो ।' और मेरे कन्धे पर प्रेमपूर्वक हाथ रखकर मुझे घर के अन्दर ले आया ।

मई दिवस की छुट्टियों के बाद, बसन्तऋतु में, हमने अपनी बाड़ी में काम शुरू किया । सवेरे तो मैं अकेली काम करती थी, और जब बच्चे स्कूल से लौटकर आजाते तो वे भी मेरी मदद करते थे । जबतक वे लौटकर आते, मैं क्यारियाँ तैयार कर देती थी और उनके लिए सिर्फ बीज बोने का काम रह जाता था । आलू के बीज छाँटने का काम भी बालकों के ही जिम्मे था, जिसे उन्होंने अप्रैल महीने के आरम्भ में ही शुरू कर दिया था ।

बच्चे गड्ढों में आलू रखते जाते थे और उनकी जाति के बारे में गरमागरम बहस भी करते जाते थे । फिर वे मिट्टी पूरकर जमीन समतल कर देते थे । तबतक मैं नये गड्ढे खोद देती थी ।

बीज बोने के बाद, बच्चे एक डोली में भर-भर कर खाद लाते थे । मैं खाद को क्यारियों में डालकर ऊपर मिट्टी चढ़ा देती थी ।

बच्चों को बाड़ी में काम करने में बड़ा मज़ा आता था । मई का आधा महीना लगते-लगते, सूरज की धूप के कारण हमारा रङ्ग ताँबे जैसा-सा

होगया था। खुद हमारे पड़ौसियों को भी मकान के इतने जल्दी बदल जाने पर आश्चर्य होता था।

आलू के बाद हमने ककड़ी, अजवाइन और मूली बोई। हमारे यहाँ छोटा-सा एक घूरा भी था। जैसे ही बरफ़ पिघलने लगती हम उसमें खाद भरकर मिट्टी से ढँक देते थे। बच्चे इस काम में भी हिस्सा बँटाया करते थे। हरसाल हम गोभी, करमकल्ला और कद्दू भी बोते थे और हरसाल बच्चे ऋतुआर में तरबूज़ बोने का प्रयोग भी करते थे। तरबूज़ कभी नहीं उगे, लेकिन बसन्त लगते ही बच्चे तरबूज़ बो देते थे। मई महीने की बीस और पच्चीस तारीखों के बीच गोभी और करमकल्ले की पौधें निकल आती थीं और कद्दू के रोपे हम क्यारियों में लगा देते थे।

हमने एक छोटी-सी वाटिका भी लगा ली थी। उसमें सेब के कुछ पेड़ और जंगली गुलाब के पौधे थे। जङ्गली गुलाब के पौधे मुझे जंगल में मिल गये थे और मैंने स्वयं उन्हें स्थानान्तरित किया था।

दिन में बच्चे जंगल में सूखी पत्तियाँ इकट्ठी करने चले जाते थे। हम अपने सेब के पेड़ों के चारों ओर इन पत्तियों का ढेर लगा देते थे। बासन्ती पाले के दिनों में, रात में, इन पत्तियों में आग लगाई जाती थी। धुएँ की गर्मी ओस और पाले की ठण्ड से हमारे पेड़ों को बचाने का काम देती थी।

मेरे बच्चे भोजपत्र का रस या मद जमा करने के भी बड़े शौकीन थे। वृक्षों पर अंकुर निकलने से पहले वे बोतलें लेकर वन में पहुँच जाते थे। बोतल को वृक्ष के तने से बाँधकर तने में छेद कर देते थे। छेद के मुँह पर एक नली चिपका कर उसका दूसरा सिरा बोतल के मुँह में छोड़ देते थे। दिन ढलते-ढलते ढेरों ताज़ा, मीठा और पौष्टिक रस जमा होजाता था। बच्चे वह रस बड़े ही चाव से पीते थे और कभी-कभी मैं खमीर मिलाकर

भोजपत्र के रस से एक किस्म का पेय भी बनाया करती थी। बच्चे और हम वयस्क भी इस पेय को बड़े स्वाद से पीया करते थे।

इससे भी पहले, बसन्त के प्रथम आगमन के साथ ही, सर्जी मैना चिड़िया के लिए लकड़ी के छोटे घर बनाना शुरू कर देता था। वह ऊपर से पिछले साल के घरौंदे उतारता और हमारे रसोईघर को छोटे-मोटे कारखाने का रूप ही दे देता था। रसोई घर में ही उसकी ठोका-पीटी, आरी चलाना और रंग-रोगन का काम होता था।

मैना चिड़िया के प्रति उसके लगाव को मैं प्रोत्साहित करती रहती थी। अपने बचपन के दिनों से मैंने बोग्दानोव की पुस्तक 'लुटेरों की दुनिया' सँभालकर रखी थी। बच्चों के लिए भी वह बड़ी ही अनोखी पुस्तक है। बोग्दानोव ने बड़े ही रोचक ढंग से उसमें मैना चिड़िया के सम्बन्ध में लिखा है और बतलाया है कि फसल को नुकसान पहुंचानेवाले कीट-पतंगों को नष्ट करने में मैना कितना ज़बर्दस्त काम करती है। हम इस पुस्तक को बार-बार ज़ोर से पढ़ा करते थे और हरबार हमें उससे सीखने को कई बातें मिलती थीं। बोग्दानोव की पुस्तक से ही हमें पहलीबार यह जानने को मिला कि फलवाले वृक्षों को हानि पहुँचानेवाले कीड़ों को मैना खाजाती है और वृक्षों की रक्षा करती है।

पास-पड़ोस के सभी लड़कों में मैना के लिए पिंजड़ा लगाने वालों में हमारे सर्जी का ही पहला नम्बर होता था। और उसे इस बात का उचित ही गर्व था कि मैना चिड़िया सबसे पहले हमारे ही पास आती थी।

यों तो, आमतौर पर सर्जी पक्षियों का बड़ा शौकीन था। इस दिशा में उसकी रुचि मेरे भाई मिशा के कारण बढ़ी थी। मिशा शिक्षा-शास्त्री होने के साथ ही साथ प्राकृतिक विज्ञान में भी दखल रखता था। जब कभी वह हमसे मिलने आता तो बच्चों को जमा कर प्राकृतिक विज्ञान के सम्बन्ध में उन्हें कई मनोरंजक बातें बतलाया करता था। इस काम के लिए हमने

अपने मैदान के पास एक जगह ही नियत कर दी थी और उसके आने पर बच्चे उसे वहीं खींच ले जाते थे ।

× × ×

१९३३ की बसन्तऋतु में मेरेज़ा ने माध्यमिक शाला की पढ़ाई समाप्त कर काम-धन्धे से लगने का निश्चय किया । मेरे पति ने उसके इस निर्णय से उसे विमुख करने का काफी प्रयत्न किया ।

उनकी दलील थी कि 'पहले पढ़ाई पूरी करलो । अच्छीतरह पढ़े बिना तुम कोई भी काम ठीक से न कर सकोगे ।'

लेकिन हमारी आर्थिक स्थिति सर्जी से छिपी हुई नहीं थी । उसे यह भी मालूम होगया था कि मैंने नौकरी के लिए दरखास्त दे रखी है ।

उन्हीं दिनों एण्डोक्राइनो लॉजी और माइक्रोबायो लॉजी की केन्द्रीय-संस्था ने (जिसे मैं अब भी प्रयोग के लिए चूहे, खरगोश और गिनापिग्स देती थी) मुझे उनकी जन्तु-शाला का प्रबन्ध करने के लिए कहा । उसमें खास आकर्षण तो मास्को में एक कमरा पाने की बात थी ।

मेरे पति मास्को में ही काम करते थे । ज़ेनिया और लेना को भी माध्यमिकशाला में भर्ती करने का वक्त आ लगा था । सर्जी के लिए भी गाँव की अपेक्षा शहर में रहना कहीं अधिक उपयोगी होता । दूसरे, सर्दियों के दिनों में गाँव में बड़ी तकलीफ होती थी ।

जो कमरा मुझे दिया गया वह मेरी जन्तुशाला से लगा हुआ ही था और असल में एक अस्तबल का हिस्सा था । उसकी आकृति बड़ी ही अजीब तरह की थी । ऐसा लगता था मानों किसी गोल रोटी में एक तिकोनी फाँदी काटकर बैठा दी गई हो । असल में सारी इमारत ही सर्कस की तरह गोल थी । लेकिन कमरे में खिड़कियाँ थीं, बिजली बत्ती और नल भी था । और यही तो हम चाहते थे ।

हम रहने के लिए उस कमरे में चले आये। परीक्षण के तौर पर शुरू में मैं अकेली आई। मेरे पति जब रात में ओवरटाईम करने आते थे तो मुझसे मिल जाते। बच्चों ने बाकी की गर्मियाँ गाँव पर ही बिताईं। वहाँ उनकी मदद के लिए एक घरेलू नौकर रख दिया गया था। मैंने संस्था में अपना काम शुरू किया और शीघ्र ही उसमें गलेतक डूब गई। हाँ, कभी-कभी थोड़ा-बहुत वक्त निकालकर घरवालों से मिलने के लिए कतुआर भी पहुँच जाया करती थी।

सर्जी अपनी हठ पर अड़ा रहा और पतझड़ लगते-लगते एक कारखाने में भर्ती होगया। थोड़े ही दिनों बाद उसने औज़ार बनाने की परीक्षा प्रतिष्ठासहित पास की। कोई बहुत आश्चर्य की बात तो नहीं थी। बचपन से ही वह मशीन और औज़ारों के सम्बन्ध में कुशल था।

काम के बाद वह कालेज में भर्ती होने के लिये प्रवेशिका परीक्षा की क्लास में जाया करता था। मैं जानती थी कि उसकी उम्र के लड़के के लिए इतना परिश्रम कम नहीं होता है; परन्तु मैं उसे रोकती भी नहीं थी। उसे अपनी शक्ति का आकलन करने देने में कोई हानि नहीं थी।

सेरेज़ा की पहली तनखा का दिन तो मैं जीवनपर्यन्त नहीं भूलूँगी। कई दिन पहले से उसने अपनी बहिनों के साथ रहस्यमय ढङ्ग से घुसर-पुसर करना शुरू कर दिया था। आखिर, वह दिन भी आ ही पहुँचा। सेरेज़ा ने एक पुलिन्दा लिये हुए घर में प्रवेश किया। उससमय घर में हम दोनो माँ—बेटे ही थे।

'अम्माँ, यह तुम्हारे लिये है।' उसने पुलिन्दा मेरी भेंट करते हुए कहा।

मैंने पुलिन्दा लेलिया और उसके अन्दर की चीज़ों को अटकलते हुए पूछा: 'क्या है?'

'खोलकर देखो।'

मैंने पुलिन्दा खोला तो अन्दर एक जोड़ी जूते निकले। मोटे चमड़े के, ऊपर कपड़ा चढ़ा हुआ और बैठी एड़ी के जूते थे। शकल-सूरत में वे जूते जनानी से मर्दानी ही अधिक मालूम पड़ते थे।

'अम्मां, ये तुम्हारे लिए हैं।' सेरेज़ा ने लजाते हुए कहा।

मेरी छाती भर आई और मैं तत्काल कुछ कह न सकी। सेरेज़ा ने मेरी चुप्पी का गलत अर्थ लगाया और जल्दी-जल्दी कहने लगा:

'हां, अम्मां! मैं जानता हूं कि ये बड़े हैं, लेकिन उसकी फिक्र मत करना। इनकी टोकर में ऊन लगा है और यदि तुम ज़ुराबों पर मोज़े पहनोगी तो जूते पांव में 'फिट' आजाएँगे।'

और तब मैंने देखा कि जूतों के अन्दर बड़े मोजे भी रखे थे।

'पर, सेरेज़ा, तुझे इतना पैसा कहां मिल गया?'

'आज ही तो मुझे तनखा मिली है।' उसने कुछ लापर्वाही के भाव से कहा। और तभी हठात् मेरी समझ में आया कि इसक्षण के लिए वह कितने दिन से आश लगाये बैठा था।

जूते तो कभी के फट गये लेकिन वे अभी भी एक कागज़ में लपेटे हुए हमारे गांव के घर के छज्जे में सुरक्षित रखे हैं। वे मेरे पुत्र की पहली तनखा के दिन की स्मृति हैं।

× × ×

सर्दियां आनेपर हम सब शहर चले आये। सर्जी कारखाने में काम करता और रात में पढ़ने जाता था, और दोनों लड़कियां भी स्कूल जारही थीं।

जन्तुशाला का काम मेरा इतना अधिक समय ले लेता था कि मैं लड़कियों को संगीत सिखलाने के लिए वक्त ही नहीं निकाल पाती थी और

इस बात को लेकर अक्सर चिन्तित हो उठती थी। मुझे विशेषरूप से ज़ेनिया के लिए दुःख होता था। क्योंकि संगीत के सम्बन्ध में उसने असाधारण प्रतिभा का परिचय दिया था। शहर चले आने के बाद तो हमें बच्चों की संगीत-शिक्षा का विचार बिलकुल ही छोड़ देना पड़ा था, क्योंकि अपना पियानो हमें गाँव में ही छोड़ना पड़ा था। यदि हम उसे शहर लाने का प्रयत्न करते तो वह रास्ते में ही टूक-टूक होजाता।

एक शाम को मैंने और मेरे पति ने बैठकर काफी बहस-मुबाहसे के बाद तै किया कि क्यों न हम एक पियानो किराये पर ले लें!

बस, तै करने की देर थी कि पियानो आगया। अब उस भूतकालीन अस्तबल में मेण्डेलसान का 'निःशब्दगीत' की टेर, जो मुझे बेहद प्यारा था, गूँजने लगी। पियानो पर मैं शॉपिन और बाख़ का संगीत भी बजाती थी और सेरेज़ा सुनते ही राग-रागिनियों को समझ जाता था।

लेकिन ज़ेनिया को संगीत की विधिवत् शिक्षा देने के लिए मुझे समय अब भी नहीं मिलपाता था। लेना अकसर, अपने मन से, पियानो बजाने बैठ जाती थी। लेकिन ज़ेनिया बड़ी ही सुस्त थी। अन्त में, हारकर, मैंने उसे एक संगीतशाला में भर्ती करने का निश्चय किया। लेकिन पता चला कि काफी देर होगई थी। उस सत्र के लिये भर्ती बन्द होचुकी थी। हम पूरा एक साल खोना नहीं चाहते थे। इसलिए बड़ी मुश्किलों के बाद ज़ेनिया को टगाङ्का के एक दूर के स्कूल में भर्ती कराया गया। वहाँ वह सप्ताह में दो दिन जाती थी। शिक्षण-शुल्क तो अधिक नहीं थी: परन्तु हमारी उससमय की आर्थिक स्थिति को देखते हुए वह बोझ ही मालूम पड़ती थी।

मेरी जन्तुशाला मेरा पूरा दिन ही खा जाती थी। सबसे बड़ी मुसीबत तो यह थी कि घर और जन्तुशाला एक दूसरे से लगे हुए होने के कारण काम के कोई निश्चित घण्टे भी नहीं थे। इसलिए मैं ज़ेनिया की संगीत-शिक्षा की प्रगति का लेखा-जोखा लेने के लिए वक्त ही नहीं निकाल पाती

थी। हाँ, इतना अवश्य था कि वह ठीकसमय में संगीत सीखने जाया करती थी और ठीकसमय पर लौट भी आती थी।

एकदिन सर्जी जब काम से लौटा तो ज़रा बेचैन-सा लग रहा था। मैं देखते ही ताड़ गई। पूछा:

'क्या बात है, बेटा?'

'बात? कुछ तो नहीं। परन्तु मैंने अब रात्रि-शाला छोड़ने का निश्चय कर लिया है। कारखाने के बाद मैं हवाबाजी सीखने जाया करूँगा।'

'लेकिन क्यों? अच्छीतरह सोच-विचार लो, बेटा! यों हमेशा काम-धन्धे बदलते रहना अच्छा नहीं हुआ करता।'

मैंने उसे रोकने की बहुत कोशिश की। अपने पति का उदाहरण देकर समझाया कि बचपन में अच्छी शिक्षा न मिलने से उन्हें कितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा और कैसे आज दिनतक वह ऊँची शिक्षा पाने के लिए प्रयत्नशील थे! मैंने उसे यह भी बतलाया कि अब तो जवानों के के सामने ऊँची शिक्षा पाने के सब रास्ते खुले हैं और उनका उपयोग न करना बड़ी ही लज्जा की बात होगी। परन्तु मेरी सारी दलीलों को सेरेज़ा ने इस कान से सुनकर उस कान निकाल दिया।

तब मैंने हताश होकर पूछा: 'अच्छी बात है। तो यह तो बता कि तेरी योजना क्या है? तू क्या बनना चाहता है?'

'मैं उड़ाका बनना चाहता हूँ।' सर्जी ने जवाब दिया।

सर्जी के मुँह से पहले भी उड़ाका बनने की बात मैं और मेरे पति सुन चुके थे परन्तु हमने कभी उसपर ध्यान नहीं दिया था। इसे भी हम उसके बचपन की तरङ्ग समझा करते थे। लेकिन इसबार तो उसने अपने इस स्वप्न की पूर्ति की दिशा में प्रयत्न भी शुरू कर दिये थे।

जब शाम को मेरे पति घर लौटे तो सर्जी ने उन्हें अपना निर्णय कह सुनाया।

'क्यों?' मेरे पति ने पूछा।

'मैं उड़ाका बनना चाहता हूँ।'

'लेकिन अच्छी शिक्षा पाये बिना तुम कुशल उड़ाके कभी नहीं बन सकते। पहले अपनी पढ़ाई पूरी करलो, उसके बाद मनपसन्द पेशा चुन लेना।' उसके पिता ने भी यही सलाह दी।

परन्तु इसबार उनकी सलाह का भी कोई असर न हुआ। सर्जी ने चुपचाप उनकी सलाह सुनली और अन्त में यही कहा कि 'मैं तो उड़ाका बनना चाहता हूँ।' मुझे और मेरे पति को उसके दृढ़ निश्चय के आगे हार मानना पड़ी।

परन्तु इस घटना ने मुझे चौकन्ना बना दिया। सर्जी ने बिना हमारी जानकारी के अपना शिक्षाक्रम बदल दिया था। यह देखकर मैंने ज़ेनिया की शिक्षा-प्रगति की छान-बीन करने का निश्चय कर लिया।

दूसरे दिन मैंने उससे कहा: 'कुछ बजाकर सुनाओ।'

उसने टालमटूल करने का प्रयत्न किया।

'अभी तो, अम्माँ, मन नहीं होरहा है।'

उससमय तो मैंने आग्रह नहीं किया; परन्तु साथ ही उसी दिन उगाछा की संगीतशाला में जाकर जानकारी ले आने का निश्चय भी किया।

संगीतशाला के दफ्तर में जाकर मैंने पूछा: 'मैं अपनी बेटी ज़ेनिया फ्लोमर की शिक्षाविषयक प्रगति के बारे में जानना चाहती हूँ।'

मेरी बात सुनकर क्लर्क की आँखें मारे अचरज के कपाल में चढ़ गईं!

'ज़ेनिया फ्लौमर ? उसने तो दो महीने से आना बन्द कर दिया है।'

'क्यों ?'

'तो मैं क्या जानूं ? बस, उसने आना बन्द कर दिया है।'

मेरे तो तन-बदन में आग लग गई। पता नहीं कब और कैसे स्कूल से बाहर आई! गणित सीखने के समय उसने जो कुछ किया था वही अब भी कर रही थी! इसबार अन्तर केवल यह था कि पूरे दो महीने से मुझे धोखा दिया जारहा था। तो क्या उससमय की मेरी नरमी का कोई असर ही नहीं हुआ था ? मेरे खयाल में तो वह उल्टा बिगड़ गई थी और सिरज़ोर बन गई थी। इन्हीं विचारों में मशगूल मैं घर लौटी। उससमय ज़ेनिया बैठी पुस्तक पढ़ रही थी। मैंने घर में पाँव रखते ही बात छेड़ी:

'ज़ेनिया, मैं सीधी टगाङ्का से चली आरही हूं।'

मैंने सोचा था कि मेरी बात सुनकर वह रोयेगी, बहानेबाजी करेगी या चुप लगा जाएगी। परन्तु उसने जो व्यवहार किया वह तो सर्वथा अनपेक्षित था।

'टगाङ्का से ? तो तुम्हें सबकुछ मालूम होगया है ? चलो, अच्छा ही हुआ।'

उसका यह आत्मविश्वास देखकर मैं तो दङ्ग ही रह गई।

'मालूम यही हुआ कि तू पूरे दो महीने से मुझे धोखा देती चली आरही है।'

'अम्माँ, मैं धोखा तो नहीं दे रही थी।'

'और धोखा देना किसे कहते हैं ?'

ज़ेनिया ने लम्बी साँस ली और बोली: 'अच्छा, अम्माँ ! मैं तुम्हें सबकुछ बतलाये देती हूँ।'

और उसने सारी बात कह सुनाई ।

बात यह थी कि उस संगीतशाला में हमसे सम्पन्न परिवार के बच्चे जाते थे। उनके कपड़े-लत्ते भी अच्छे थे। और मेरी ज़ेनिया, बेचारी, फेल्ट जूते पहिनकर जाती थी। सो भी फट रहे थे और उसके पाँव में बड़े पड़ते थे।

लड़कियाँ उसकी मज़ाक उड़ाती थीं। एकदिन सड़कों पर कीचड़ होगई। ज़ेनिया के जूते गन्दे होगये और कक्षा का सारा फ़र्श भीग गया: यहाँ-वहाँ ज़ेनिया के जूतों से पानी के डबरे भी बन गये। यह देख एक लड़की ने ज़रा तेज़ आवाज़ में कहा:

'कक्षा का फ़र्श सड़क होरहा है! चारों तरफ़ पानी के डबरे फैल रहे हैं। ज़रा-सा औसान चूके और पाँव डबरे में पड़ा। और जो हमें सर्दी होजाय! हम दूसरों की तरह बरफ़ के जूते तो पहिने नहीं हैं। हमने ग्रीष्मकालीन जूते जो पहिन रखे हैं!'

'बरफ़ के जूते!' यह ज़ेनिया की सहिष्णुता के परे की बात थी। दूसरे दिन से उसने जो स्कूल से तड़ी लगाई सो अबतक नहीं गई थी। वह अपना स्कूल का समय एक स्टोअर में बिताती थी।

मैंने हतप्रभ होकर पूछा: 'परन्तु स्टोर में जाने की क्या ज़रूरत थी?'

ज़ेनिया ने कहा: 'सड़कों पर ठण्ड जो लगती है। परन्तु अम्माँ, तुम उसे लेकर परेशान मत हो। स्टोर में मैं कानी-कौड़ी खर्च नहीं करती थी। यहाँतक कि आइसक्रीम भी नहीं खरीदती थी। मैंने जेबखर्च और शुल्क की एक-एक पाई बचाकर रखी है। तुमसे कहने और पैसा लौटाने का उपयुक्त अवसर ढूँढ ही रही थी।

यह कहकर वह उठी और जाकर सारा पैसा लेआई। उसने पैसा एक डिबिया में रख छोड़ा था।

'लेकिन तूने मुझे बतलाया क्यों नहीं? मुझे धोखा क्यों दिया? क्या तू अमितशिक्षकवाला किस्सा भूल गई थी?'

और मैंने पाया कि यही प्रश्न ज़ेनिया के लिए सबसे विकट था। उसने कोई जवाब नहीं दिया और आँखें झुकालीं। फिर उसने प्रयत्नपूर्वक धीरे-धीरे कहना शुरू किया:

'प्यारी अम्माँ, क्या तुम स्वयं नहीं जानतीं? मैं कहती तो भी क्या फायदा होता? घर में फेल्ट जूते के सिवा और है ही क्या? उल्टे, कहने से तुम्हें कष्ट ही होता!'

और, हाय, मैं उसे झिड़कने जारही थी! झूठ बोलने, मटरगश्ती करने और धोखा देने के लिए उसकी लानत मलामत करने जारही थी! मैं उसे उसके 'अपराध' की सजा देने जारही थी! एकबार फिर मेरा विश्वास पक्का होगया कि जिसे हम बच्चों का 'बुरा व्यवहार' कहते हैं आमतौर पर उसके मूल में बच्चों का शुभ मन्तव्य ही अधिक होता है। और इस प्रतीति के बाद मुझे इस बात की प्रसन्नता हुई कि मैंने ज़ेनिया को डांटा-फटकारा नहीं था।

मैं ज़ेनिया की भावनाओं को अच्छीतरह समझ गई थी। मेरी बिटिया बड़ी ही भावुक थी। स्कूल में उसका जो अपमान किया गया था वह उसकी सहनशीलता से परे था। फिर भी वास्तविकता से यों मुख मोड़ना ग़लत ही था। मैंने उसे समझाने का प्रयत्न करते हुए कहा:

'परन्तु ज़ेनिया बेटी, इसतरह की छोटी-छोटी बातों का भी कहीं यों खयाल किया जाता है?'

उसने कोई जवाब नहीं दिया।

मैंने उसे सच्चे और झूठे स्वाभिमान का फर्क़ बतलाया और कहा कि इसतरह के छोटे-मोटे आघातों से अपने लक्ष्य से विचलित होना उचित

नहीं है। ज़ेनिया मन लगाकर मेरी बात सुनती रही। वह मुझसे पूर्णरूपेण सहमत थी। फिर भी स्कूल जाने और उससे भी अधिक, अपने पिछड़े पाठ को पूरा करने के लिए वह तैयार न होसकी।

'तुम दो महीने पिछड़ गई हो और अब पढ़ाई पूरी करना मुश्किल होगा। इसलिए इस साल तो अपनी संगीत-शिक्षा को बन्द ही समझो। हाँ, अगले साल तुम्हें फिर क, ख, ग से शुरू करना पड़ेगा। रहे तुम्हारे जूते, सो उनकी फिक्र मत करो। थोड़ा पैसा हाथ में आते ही तुम्हें एक अच्छा-सा नया जोड़ा खरीद देंगे।' मैंने उसे छाती से लगाकर प्रसन्न स्वर में कहा।

उसके चेहरे पर एक हलकी-सी मुस्कराहट दौड़ गई। मैं उसे आश्वासन देती जाती थी और दुःखपूर्वक सोचती जाती थी कि सेरेज़ा और ज़ेनिया की शिक्षा के सम्बन्ध में हमें किसतरह निराश होना पड़ा था! इसका यह अर्थ तो कदापि नहीं था कि हमारी उमंगें सदा के लिए नष्ट होगई थीं; परन्तु उनका यों टूटना दुःख का कारण अवश्य बना था और दिल पर पत्थर रखकर हमें अपनेआप को नयी परिस्थितियों के अनुकूल बनाना पड़ा था।

निराशाओं से अभी भी हमारा पीछा नहीं छूटा था। अब लेना मेरी चिन्ता का कारण बनी। वह बचपन से ही मनमौजी और अपनी धुन की पक्की थी। उसे काम के दौरे-से आते थे। आज एक काम के पीछे हाथ धोकर पड़ी है, तो कल उसका नाम भी न लेगी। सिलाई के काम में उसे बड़ा मज़ा आता था। लेकिन सिलाई के काम में उसकी दिलचस्पी स्वस्थ नहीं थी। एकतरह का पागलपन-सा था। कैंची हाथ में आते ही उसकी अँगुलियों में खुजली-सी मच जाती थी। जो कपड़ा दीख जाता उसे काट-पीटकर, जोड़-जाड़कर नया बना देती थी। कभी उसे इस काम में आशातीत सफलता मिलती थी तो कभी बिलकुल निराशा पल्ले पड़ती थी। कहना चाहिये कि कैंची हाथ में आते ही उसपर नशा-सा चढ़ जाता था। उसकी प्रतिभा जाग पड़ती थी। उसकी लम्बी, पतली और सधी हुई अँगु-

लियों के नीचे कपड़े की कायापलट होजाती थी। मैं स्वीकार करती हूँ कि कभी तो वह सच ही गजबकर दिखलाती थी। उसे सीना-पिरोना किसी ने सिखलाया नहीं था। वह खुद ही सीख गई थी। लेकिन कभी-जभी तो वह कपड़ों का सत्यानाश ही कर डालती थी।

एकबार उसके दिमाग़ में मेरे पति के पुराने ओवरकोट को काटकर सेरेज़ा के लिए छोटा कोट बनाने का ख़ब्त सवार हुआ। उसने बड़े मनोयोगपूर्वक कोट को उधेड़ा और कैंची चलाने लगी। मेरा दिल बैठा जारहा था। कोट यद्यपि पुराना था, परन्तु कपड़ा अभी भी अच्छा और मज़बूत था।

'लेनोच्का, तू कोट का सत्यानाश कर डालेगी!'

'तुम देखना तो सही, अम्माँ!'

परन्तु मेरी आशङ्का ठीक ही साबित हुई। थोड़ी ही देरबाद मैंने लेना को कपाल में सल डाले, कतरनों के बीच, व्यस्त बैठे देखा।

'कहो लेना, क्या हाल हैं?' मैंने बड़ी ही सावधानी से पूछा।

परन्तु मुझे कोई उत्तर नहीं मिला। वह निराशापूर्वक कैंची को अँगुलियों में नचाती रही। कोट का कोट गया और सेरेज़ा बिना कोट के ही रह गया।

दूसरे दिन सवेरे ही लेना गाँव चल दी। उसदिन उसका स्कूल दुपहर बाद का था। वह उस ओवरकोट की अन्तिम क्रिया करने गई थी। क्योंकि कुछ साल बाद जब मैं छज्जे की सफ़ाई कर रही थी तो एक गठरी में ओवरकोट की कतरनें निकलीं थीं।

मेरे दूसरे बच्चों की तरह, लेना भी बड़े ही ईर्ष्यालु स्वभाव की थी। उसके पिताजी भूले-भटके भी ज़ेनिया की प्रशंसा कर देते तो वह मुँह चढ़ाकर बैठ जाती थी। फिर उसे मनाना किसी के बूते का काम नहीं था। किसी ने ज़रा-सा भी छेड़ा कि वह बरसने लगती थी।

एकबार तो वह अपने मन की बात कह भी गई: 'काश, मैं घर में अकेली लड़की होती!'

ज़िनिया ज़ब्त न कर सकी। उसके मुँह से निकल गया: 'अकेले से मौत भली!'

अब लेना का गुस्सा देखते ही बनता था। वह अण्ड-बण्ड बकने लगी: 'हां-हां; मौत भली! आई बड़ी अकलमन्द की दुम!'

जब कभी ज़िनिया को गुस्सा दिलाना होता था तो लेना उसे 'कमअकल' या 'अक्लमन्द की दुम' कहकर पुकारती थी। परन्तु यह स्वीकार करना पड़ेगा कि लेना के प्रचण्ड गर्जन-तर्जन के आगे ज़िनिया का शान्त क्रोध पासङ्ग के के बराबर भी नहीं मालूम पड़ता था। लेना चीखती-चिल्लाती थी और ज़िनिया आँसू ढारने लगती थी।

लेकिन इसबार ज़िनिया अविचलित रही। और दोनो लड़कियाँ झगड़ने लगीं। अबकी लेना की रोने की बारी थी। वह आँसू बहाती हुई अपनी बहिन पर चिल्ला पड़ी:

'सभी जानते हैं कि तू पिताजी की लाड़ली है।'

लड़कियों के इस आपसी झगड़े के मारे मैं बड़ी ही क्षुब्ध होजाती थी; परन्तु साथ ही मुझे स्वीकार करना पड़ता है कि इस झगड़े को मिटाने का कोई उपाय भी मुझे नहीं सूझता था।

× × ×

एकदिन, मार्च के अन्तिम सप्ताह में, लेना के नाम एक पत्र आया।

पढ़ते-पढ़ते उसके गाल लाल होगये तो मैंने पूछा: किसका पत्र है?

लेना का चेहरा आमतौर पर फीका था। इसलिए जब कभी उसके गाल लाल होजाते थे तो वह उसकी आन्तरिक उत्तेजना को व्यक्त करते थे।

'मेरी क्रास्नोदार वाली दादी का है।'

लेना की यह क्रास्नोदारवाली दादी उसके पिता की कोई दूर की रिश्तेदार थी।

'क्या लिखा है?'

'बहुत बीमार है और मुझे मिलने के लिए बुलाया है।'

उसने पत्र मुझे पढ़ने के लिए दिया।

दादी ने अपने बुढ़ापे, लगातार बीमार रहने और लेना को बुलाने की बात लिखी थी।

दादी का न्यौता लड़की के लिए बड़ा ही लुभावना था। वह तो जाने के लिए उतावली होउठी थी; परन्तु उसे भेजना हमारे लिए उतना आसान नहीं था। तो भी मैं उसे भेजना चाहती थी: मैं उसकी 'घर में अकेली लड़की' होने की बात को भूली नहीं थी। वहाँ उस एकाकिनी बुढ़िया के समीप रहकर उसके मन की वह बात पूरी होजाती। अन्यथा आगे चलकर लेना सोच सकती थी कि वह दूसरी जगह ज्यादा सुखी रहती पर हम व्यर्थ ही उसके सुखोपभोग में आड़े आये। मैं इस पुरानी कहावत में पूरीतरह विश्वास करती थी कि: 'आप मरे बिना स्वर्ग नहीं दिखता।'

परन्तु हमारी आर्थिक कठिनाइयाँ लेना से छिपी नहीं थीं। इसलिए वह भूलकर भी दादी के यहां जाने की बात मुँहपर न लाई। अब उसने अपना सारा ध्यान खाना पकाने पर केन्द्रित कर दिया था। वह खाना पकाने में बड़ी ही सिद्धहस्त थी। और इस काम में भी अपनी विशेषता के चारचांद लगाना भूलती न थी।

कभी-कभी मैं उससे कह देती थी: 'बेटी लेनोच्का, आज तो मैं बड़ी व्यस्त हूँ। क्या तू खाने के लिए कुछ बना लेगी?'

बस, वह मोलोखोवेत्ज़ की लिखी पाक-विज्ञान की पुरानी-धुरानी पोथी लेकर बैठ जाती और कोई अनोखा पदार्थ ढूँढ़ निकालती थी। उसदिन हमारी थालियों में एक ऐसा अनोखा भोजन परोसा जाता था, जिसका नामकरण तो हम कभी न कर पाते; परन्तु जिसके सुस्वादु होने में कोई शङ्का नहीं होती थी।

'क्या आज भोजन लेना ने बनाया है?' उसके पिताजी पूछते।

सर्जी उस दुर्लभ पदार्थ के कौर चबाता हुआ उत्तर देता था: 'लगता तो यही है।'

और लेना उत्सुकतापूर्वक उनकी राय माँगती थी: 'क्यों, कैसा बना है? अच्छा तो है न?'

काखोदार से चिट्ठी आने के बाद भी लेना के व्यवहार में प्रकटतः कोई परिवर्तन नहीं हो पाया था। परन्तु एकदिन जब मैं अचानक घर में आई तो उसे एक पुराने रेलवे टाईमटेबल के पन्नों पर आँखें गड़ाये देखा। वह उसमें इतनी तल्लीन होगई थी कि मेरा आना भी उसे मालूम नहीं हुआ था।

'तुम काखोदार जाना चाहती हो?' मैंने सीधे-सीधे पूछा।

'मैं तो बेताब होरही हूँ।'

'अच्छी बात है, ज़रूर भेज देंगे।'

हमने झट से उसका सामान बाँधा, साथ जाने के लिए एक आदमी ढूँढ़ दिया और उसे गाड़ी में बैठा दिया।

थोड़े ही दिनों बाद उसकी दादी का पत्र आया। उसमें लेना के कुशलपूर्वक पहुँचने की बात के साथ ही साथ लिखा था, 'यदि तुम कृपा कर लेना को मेरे पास रहने की अनुमति दे सको तो कृतज्ञ हूँगी। मैं अकेली हूँ

और ऊपर से बुढ़ापा।' पत्र के अन्त में लेना ने भी अपने टेढ़े-मेढ़े अक्षरों में चार लकीरें लिख दी थीं:

प्यारी अम्मां, मैं यहां बड़े मज़े में हूँ। मुझे यहीं रहने की इजाजत दे दो। यहां बागवानी का एक स्कूल भी है। मैं उसमें भर्ती होना चाहती हूं। तुम्हारी-लेना।'

जिस परिवार में रहकर वह बड़ी हुई उसके सम्बन्ध में उसने एक शब्द भी नहीं लिखा था और न उसे हमसे विलग होने का अफ़सोस ही था। और यह सब उससमय जबकि वह चौदह बरस की होचुकी थी! तो क्या इसका यह मतलब था कि हमारे साथ रहने में वह सुखी नहीं थी?

उसके इस व्यवहार ने मेरी रात की नींद हराम करदी। बिस्तरे में पड़ी बीतेदिन की बातों को याद किया करती। उदासी खाये जाती थी। कहीं एकदिन इसीतरह सेरेज़ा और ज़ेनिया भी तो नहीं उड़ जाएँगे? क्या उन्हें भी मेरा और डेविड इवानोविच का कोई खयाल नहीं आयेगा? क्या उनके मन में ज़रा भी मुहब्बत नहीं रह जायगी? मुझे इसतरह चिन्तित देख मेरे पति हरतरह से मुझे आश्वासन देने का प्रयत्न करते थे:

'ज़रा दूसरे परिवारों की ओर भी आँख उठाकर देखो! यों हलकान क्या होती हो? बच्चे बड़े होते हैं, घर-बार बसाते और माँ-बाप से अलग होजाते हैं। यही क्रम चला आरहा है। जवानी में सभी ऐसा ही करते हैं।'

परन्तु मेरा समाधान नहीं हो पाता था। उदासी वैसी ही बनी रहती थी। मुझे लगता था कि बच्चे बड़ी तेज़ी से बढ़ रहे हैं। और जब मैं सेरेज़ा और ज़ेनिया को अपने पाँवों पर खड़े होते, देखती थी तो दिल भारी होजाता था।

सेरेज़ा रोज़ अपने कारखाने और हवाई क्लब से खुश-खुश घर लौटता था। वह अपने काम और हवाबाजी के सम्बन्ध में घण्टों बैठा अपने पिताजी से चर्चा किया करता था।

जब कभी मैं जन्तुशाला से लौटती तो दोनों को पास बैठे गरमागरम बहस में उलझा हुआ पाती थी। उनकी ये बहसें सदा ही टेकनिकल मामलों पर हुआ करती थीं। उनदिनों सर्जी अपने कारखाने में पीपे खोलने का काम कर रहा था। लेकिन उन्हें खोलने का जो तरीका था उसमें काफी समय लग जाता था। सर्जी ने उसमें परिवर्तन करने का निश्चय किया। उसका खयाल था कि तरीके में सुधार कर देने से काम जल्दी होने लगेगा। वह कई दिनों तक नक्शे बनाने, हिसाब लगाने और अपने पिताजी से सलाह-मशविरा करने में लगा रहा। अन्त में उसने पक्का नकशा तैयार कर लिया और अपने पिताजी को बतलाया।

उन्होंने उसे पास करते हुए कहा, 'हां, यह बिलकुल ठीक है। तुम इसे पेश कर सकते हो।'

कुछ दिनों बाद सर्जी उछलता-कूदता घर आया। तरीके में उसने जो सुधार किया था उससे काम की गति बहुत बढ़ गई थी और इसके लिए उसे पारितोषिक भी दिया गया था।

मई के महीने में एकदिन और वह इसीतरह खुशी से नाचता हुआ घर लौटा। उसदिन उसने पहलीबार हवाईजहाज़ उड़ाया था। परन्तु उसकी ये सब बातें मेरे दायरे के बाहर की थीं। ये उसकी और उसके पिता की—'आदमियों' की बातें थीं। हमारा सर्जी अब लड़का नहीं रहा था। वह आदमी हो चला था।

पाँचवाँ परिच्छेद

१६३४ का साल था और जून का महीना लग ही रहा था। परन्तु हमारे बगीचे में हरियाली की बहार शुरू होगई थी। मैंने शहर और गाँव के घर को एक कर रखा था। बच्चे अभी कतुआर में ही थे। मैं उनके लिए रसद ले जाती, बगीचे में काम करने के लिए थोड़ा वक्त निकाल लेती और फिर मास्को भाग आती थी। मुझे शक्ति से अधिक काम करते देख मेरे पति अपनी अप्रसन्नता व्यक्त करते थे।

मैं उनकी नाराज़ी की ओर कोई ध्यान नहीं देती थी परन्तु मैं स्वयं भी जन्तुशाला से बिलकुल तङ्ग आगई थी। वहाँ का काम अब सुचारुरूप से चल निकला था और वे लोग मेरे बिना भी चला सकते थे। असल में तो वहाँ से इस्तिफ़ा देना ही अच्छा होता। लेकिन मास्को में मुफ्त का कमरा था और उसे छोड़ते प्राणों पर बीतती थी।

मेरे पति ने मुझे बतलाया कि उनके कारखाने वाले त्वेरस्काया स्ट्रीट-वाली इमारत पर कुछ मंज़िलें उठा रहे हैं और वहाँ उन्हें एक कमरा देने का वादा भी किया जाचुका है।

'लेकिन काम तो अभी शुरू ही हुआ है। जाने कब मंज़िलें उठेंगी और जाने कब हमें कमरा मिलेगा?'

मेरे पति मेरी सभी आपत्तियों से परिचित थे इसलिए हारकर कहते: 'अच्छा बाबा, जो तुम्हें अच्छा लगे करो!'

जून महीने की सात तारीख की बात है। मैं हमेशा की तरह ट्रेन से शहर पहुँची। मुझे समय की पाबन्दी की उतनी फिक्र नहीं थी, इसलिए मैंने भीड़ को निकल जाने दिया और जब स्टेशन का प्लेटफार्म खाली होगया तो आराम से फाटक की ओर चली। मेरे साथ गाँव की एक लड़की भी थी। हम दोनों बातें करती जारही थीं। उसीसमय किसीने डरते-डरते मेरे घुटने को बड़ी ही कोमलता से छुआ। मैंने झुककर देखा। बिखरे हुए भूरे बाल और भूरे ही रङ्ग का फटा-पुराना कोट पहने एक नन्हीं-सी बालिका खड़ी थी।

'क्या है, बिटिया?'

'मुझे भूख लगी है।'

उसकी आवाज़ बड़ी ही कमज़ोर थी।

'तुम कहाँ रहती हो? तुम्हारी माँ कहाँ है?'

,मुझे नहीं मालूम।'

वह मेरा साया पकड़कर खींचने लगी और मैं उसके पीछे चल दी।

वह खींचती हुई मुझे स्टेशन के एक वेटिङ्गरूम तक लेआई। वहाँ उसीकी उम्र के तीन और बच्चे एक कोने में सिकुड़े-सिकुड़ाये पड़े थे।

वर्दी डाटे एक मेट्रन भी वहाँ थी। मैं उसके पास गई और कोने की ओर संकेत कर पूछा:

'ये बच्चे कौन हैं?'

मेट्रन ने भौंहें सिकोड़कर अपनी अप्रसन्नता व्यक्त की और बोली:

'तुम्हें मतलब?'

'मुझे एक लड़की यहाँ लाई है। वह जो वहाँ खड़ी है। देख रही हो न, उसे? वह खाने को कुछ माँग रही है।'

'सो भूखे तो ये हैं ही। परित्यक्त हैं बेचारे।' मैट्रन ने सहज भाव से कहा।

'परित्यक्त ?'

'हाँ जी ! बड़ा ही आसान है। लोग-बाग इन्हें यहाँ लाकर छोड़ जाते हैं। वे जानते हैं कि बच्चे मरेंगे नहीं। सबसे पहले तो हम बच्चों को कुछ खाने के लिए देते हैं। स्टेशनमास्टर इसका प्रबन्ध कर देते हैं। और शाम को कोई देनिलोव्का से आकर बच्चों को लेजाता है।'

'फिर क्या होता है ?'

'वहाँ से उन्हें किसी अनाथालय में भेज दिया जाता है।'

'और इनके माँ-बाप ? क्या तुम उनका पता नहीं लगा सकती ?'

मैट्रन ने एक करुणापूर्ण हँसी हँसकर हाथ हिला दिये।

वह नन्हीं बालिका अभीतक मेरे घुटनों से लिपटी मुझे कहीं लेजाने का प्रयत्न कर रही थी।

'भूख लगी है, भूख लगी है।'

कतुआर वाली जो लड़की मेरे साथ थी और हमारी बातचीत सुन रही थी, मैंने उसे संकेत किया:

'ज़रा लपककर चौराहेवाली दुकान से थोड़ी रोटी तो खरीद लाना।'

उसके जाते ही मैट्रन और खुलकर बात करने लगी।

'पहले तो छोड़े हुए बच्चों का कोई शुमार ही नहीं था। लेकिन अब तो समय बदल गया है। जीवन भी पहले से ज्यादा सरल होगया है और लोग भी पहले की अपेक्षा ज्यादा जिम्मेवार होगये हैं। फिर भी इक्के-दुक्के लोग अबतक बालकों को छोड़ ही जाते हैं।'

जब रोटी आगई तो मैंने उसके टुकड़े किये और बच्चों को खाने के लिए दिये। उस छोटी लड़की को भी दिये, परन्तु फिर भी वह मुझे खींचती ही रही। मैंने झुककर उसकी ओर देखा।

'क्यों रोटी तो पेटभर मिल गई न?'

उसने स्वीकृति में सिर हिला दिया। वह बिलकुल सीधी-सादी और दुबली-पतली लड़की थी; परन्तु उससमय वह मुझे बड़ी ही खूबसूरत और प्यारी लग रही थी।

अनजाने ही मेरे मुँह से निकल पड़ा, 'मैं इसे अपने साथ लेजाना चाहूँगी।'

'लेकिन यह अकेली नहीं है,' मैट्रन ने मुझे सचेत करते हुए कहा।' वहाँ, कोनेवाली बेंच पर इसका भाई भी है।'

लड़की द्वारा खींचे जाने का कारण अब मेरी समझ में आया।

जब मैंने उस दुबले, कमज़ोर और नन्हें-से बालक को गाल के नीचे हाथ दिये बेन्च पर निस्पन्द पड़े देखा तो मन में दया का जो ज्वार उठा उसे शब्दों में व्यक्त नहीं किया जासकता। वह मुश्किल से सालभर का होगा! उस माँ का दिल कैसा रहा होगा, जिसने अपने दो अनाथ बच्चों को वहाँ लाकर भाग्य-भरोसे छोड़ दिया था?

मानों मेरे विचारों के प्रत्युत्तर में मैट्रन वहाँ आपहुँची और उसने बच्चे का सिर सहलाते हुए कहा:

'पहले वाले दिन होते तो कोई बात नहीं थी। परन्तु अब, अब तो तुम जो चाहो काम कर सकते हो और जैसा चाहो रह सकते हो। फिर माताएँ क्यों बच्चों को छोड़ जाती हैं?'

मैंने कहा: 'देखिये, मैं इन बच्चों को अपने साथ लेजाना चाहती हूँ। बतलाइये, इस सम्बन्ध में किससे मिलना होता है?'

उसने मुझे स्टेशनमास्टर का पता बतलाया और कतुआरवाली अपनी संगिनी को भूलकर मैं उधर लपकी।

स्टेशनमास्टर ने आश्चर्यचकित होकर पूछा: 'मगर आप उन्हें लेजाकर करेंगी क्या?'

'गाँव में मेरा घर है और एक गाय भी है। मैं उन्हे खिला-पिलाकर मोटे-ताज़े बना दूँगी। गर्मियाँ तो यों बीत जायेंगी। पतझड़ में देखा जायगा। संभव है कि हृष्ट-पुष्ट होनेपर मैं उन्हें अनाथालय में भर्ती करवा दूँ।'

'बड़ी कृपा होगी, बड़ी कृपा होगी।' बूढ़े ने कह तो दिया परन्तु अभी भी उसे मेरी बात का विश्वास नहीं होरहा था।

'मुश्किल यही है कि मैं इन्हें छहबजे से पहले नहीं ले जा सकूँगी। लेकिन ठीक छहबजे मैं अवश्य आऊँगी। कृपया इन्हें भेज न दीजियेगा।

निश्चिन्त रहो। मैं नहीं भेजूँगा।' उसने वादा किया।

मैं सीधे संस्था की ट्रेडयूनियन समिति में गई। उसका सभापति एक युवक डाक्टर और सहायक प्रोफ़ेसर था।

'देखिये, कामरेड वी०, मैं जन्तुशाला में हमेशा आपकी मदद करती रही हूँ, अब मदद करने की आपकी बारी आई है।'

'बड़ी खुशी से, कहिये क्या कर सकता हूँ?'

मैंने उन्हें सारा किस्सा कह सुनाया।

'मैं समिति से तो कोई मदद नहीं चाहती। सिर्फ आपसे इतना चाहती हूँ कि जल्दी से जल्दी दो बच्चों के रेशनकार्ड बनवा दीजिये।'

कामरेड वी० ने यथासंभव पूरी मदद देने का वादा किया।

ठीक छहबजे में स्टेशन पहुँची। सीधी उस कमरे में गई, जहाँ बच्चों को छोड़ा था। मैंने दरवाज़ा खोला। क्या, सच ही, सवेरे मैं यहाँ आई थी?

कमरा वही था! लेकिन इस समय उसमें दो हृष्ट-पुष्ट लड़कियों के सिवा और कोई नहीं था। वे दोनो शकल-सूरत में एक-सी थीं और दोनो ने एक ही तरह के लाल फ्राक पहिन रखे थे।

'शायद जुड़वाँ हैं,'

लेकिन मैंने उनके सम्बन्ध में अधिक नहीं सोचा। मेरी कोई दिलचस्पी भी नहीं थी। मुझे तो अपने बच्चों की पड़ी थी। वे कहाँ थे? सवेरे जिस मैट्रन से बातें की थीं वह कहाँ थी? न तो बच्चों का पता था, न उस मैट्रन का ही। उसके स्थान पर एक नयी ही युवती मैट्रन थी, जिसकी पोशाक भी बड़ी ही नफीस थी। जब मैंने उससे पूछा तो उसने बड़े ही सन्देहात्मक ढङ्ग से मेरी ओर देखा और बोली:

'बच्चों को तो उस केन्द्र में लेगये हैं जहाँ से उन्हें अलग-अलग जगहों में भेजा जाता है और मैं चार बजे से ड्यूटी पर आई हूँ। उससे पहले का कुछ मालूम नहीं।'

मैं स्टेशनमास्टर के पास दौड़ी गई।

'आपने यह क्या कर डाला! उन बच्चों को क्यों ले जाने दिया?'

'हाय-हाय, मैं तो भूल ही गया।'

वह बेचारा मेरे साथ उस कमरे तक आया, जहाँ बच्चों को रखा जाता था। कमरे में लाल फ्राकवाली वे जुड़वाँ बहिनें पत्थर की मूरत बनी बैठी थीं। दोनों ने अपने हाथ गोद में रख छोड़े थे।

स्टेशन मास्टर बड़ा ही खुश-मिजाज मालूम पड़ा। उसने हँसते हुए कहा: क्यों न इन दोनों को लेजाओ? बड़ी ही प्यारी, स्वस्थ और सुन्दर

लड़कियाँ हैं। इन्हें भी कोई छोड़ गया है। इन्हीं को ले जाओ और झगड़ा ख़त्म करो।'

मैंने उन लड़कियों की ओर देखा। सच ही, वे बड़ी ही सुन्दर, सुशील और प्यारी मालूम पड़ रही थीं। सुबह वाले उन दुर्बल बच्चों और इनमें जमीन आसमान का अन्तर था।

'नहीं, मैंने कहा,' इन्हें तो मेरी आवश्यकता नहीं है। उन दोनों को मदद की ज़रूरत थी और मैं उनका पता लगा कर ही रहूँगी।

जहाँ-जहाँ उन बच्चों के मिलने की उम्मीद थी, मैंने उन ठिकानों का का पता नोट कर लिया और झट से उनकी तलाश में निकल पड़ी। देर करने से उनके पूरीतरह खोजाने का अन्देशा था। स्टेशन के बाहर ही टैक्सी खड़ी थी। मैंने बटुवा देखा तो अन्दर सात रूबल निकले। मैंने सोचा, चलो इतने में काम निकल जायगा।

मैंने टैक्सी के ड्राइवर से कहा, 'प्यात्नीत्ज़काया स्ट्रीट चलो। जल्दी करो।'

जब मैं पहुँची बँटवारा-केन्द्र के फाटक बन्द होचुके थे और एक अधेड़ उम्र का सिपाही फाटक पर खड़ा पहरा देरहा था।

'मुलक़ातियों के मिलने का समय सिर्फ चार बजेतक का है।'

'अब आप ही बतलाइये, सिपाहीजी, मैं क्या करूँ? बड़ा ही ज़रूरी काम है।'

'मैं मजबूर हूँ।'

मैं चुप लगाये खड़ी रही। वह भी चुपचाप मुझे घूरने लगा।

'क्यों सिपाहीजी, क्या कुछ भी नहीं होसकता है?'

'तुम्हें अन्दर काम क्या है?'

'मैं दो बच्चों के लिए आई हूँ, वे दोनो अन्दर हैं।'

'क्या वे तुम्हारे बच्चे हैं?'

मुझे न जाने क्यों अन्तःप्रेरणा-सी हुई और मैंने कह दिया: 'जी हां।' सिपाही ज़रा नरम पड़ा।

'अच्छी बात है: मैं तुम्हें पिछवाड़े के रास्ते से अन्दर जाने दूँगा।'

वह मुझे आँगन में लेगया और एक दरवाज़ा दिखलाते हुए बोला:

'इससे होकर चली जाओ। परन्तु देखना, भूलकर भी इसके सम्बन्ध में किसीसे कहना मत।'

मैंने उसे बहुत-बहुत धन्यवाद दिया और सीढ़ियां चढ़ गई।

ऊपर बहुत-से दरवाज़ों वाला एक गलियारा मिला। मैंने बिना कुछ सोचे-विचारे एक किवाड़ खोलकर अन्दर झाँका। सारा कमरा बच्चों से भरा था। सभी सुबह वाले बच्चों जैसे ही मरियल थे। फर्क इतना ही था कि ये उम्र में उनसे बड़े थे।

एक युवती टेलिफोन के चोंगे में चिल्ला रही थी:

'क्या आप क्षय के अस्पताल से बोल रहे हैं?...जी, क्षय का अस्पताल! हमें क्षय की कुछ दवाइयाँ चाहियें। हलो! क्या आप क्षय के अस्पताल से बोल रहे हैं? हलो!'

उसीसमय एक दूसरी युवती दौड़ी हुई आई।

'क्यों तुम टेलीफ़ोन कर चुकी? कितना वक्त लगेगा? मेरे सब बच्चे भूखों मरे जारहे हैं और दूधवितरण-मण्डल वालों ने तो अभीतक करवट भी नहीं बदली है। राम जाने, उन्हें सांप सूँघ गया है या क्या?'

बच्चे? हां, नन्हें बच्चे ही। मैं उलटे पांवों गलियारे में लौट आई और प्रतीक्षा करने लगी। थोड़ी देर बाद दूसरी युवती बाहर निकली। उसने मुझे देखा:।

'कहो बहिनजी, कैसे आईं ?'

मैंने अपने आने का कारण कह सुनाया।

'मैं तो पहिचानती नहीं, आपको ही ढूँढ़ना पड़ेगा। नन्हें बच्चे सब उस कमरे में हैं।' उसने दरवाज़ा दिखला दिया और क्षमा माँगती हुई बोली: 'अफ़सोस है कि हम आपके लिए कुछ नहीं कर सकेंगी। हम अभी ही काम पर आई हैं और कहाँ क्या है, कौन कहाँ है, यह तक तो हमें मालूम नहीं।'

मैं कमरों में ढूँढ़ने लगी बच्चे तो अधिक नहीं थे परन्तु सब चिल्ल-पों मचा रहे थे। और सब के सब एक-से मालूम पड़ते थे। उनमें मैं सवेरे-वाले अपने बच्चों को कहाँ ढूँढ़ती ?

तभी, सवेरे की तरह मैंने अपने घुटनों पर एक कोमल स्पर्श का अनुभव किया। देखा तो भूरे बालों और पुराने-धुराने भूरे कोट वाली सवेरे-वाली वही लड़की दिखलाई दी। हाँ, वही थी; मेरी नन्हीं-मुन्नी बीटिया ! मैंने उसे गोद में उठा लिया। और कसकर छाती से लगा लिया।

'तुम्हारा छोटा भाई कहाँ है ?'

'मुझे नहीं मालूम।'

'मुझे नहीं मालूम' से अधिक वह कुछ बतला न सकी। इसलिए उसे गोद में उठाकर मैं कमरों में ढूँढ़ने लगी। पहले एक कमरा देखा, फिर दूसरा, परन्तु उसका भाई नहीं मिला। तभी मुझे खयाल आया कि अरे, मैं तो अपने बच्चों का नाम तक नहीं जानती !

'बिटिया, तेरा नाम क्या है !'

'वाल्या।'

वह थोड़ा तुतलाती थी। राम जानें, उसने वाल्या कहा था या वार्या ?

'वाल्या ?'

'हां।'

अच्छी बात है तो वाल्या ही सही।

'और तुम्हारे भाई का नाम ?'

'वाश्या।'

चलो और भी अच्छा हुआ। अब मैं पुकारने लगी:

'वास्या, वास्या !'

दो-तीन बच्चों ने सिर उठाकर ऊपर देखा परन्तु उनमें मेरा बच्चा नहीं दिखा।

× × ×

जब वाल्या को गोद में लिये मैं कमरों का तीसरीबार चक्कर लगा रही थी तो वह मुझे अचानक कोनेवाली एक बेञ्च पर दिख गया।

मैंने कहा, 'वह रहा वहां।'

वाल्या ने अपनी तीखी आवाज़ में पुकारा: 'वाश्या, वाश्या !'

उसने आंखें खोलीं और तुरन्त बन्द करलीं। एकबार फिर मेरा हृदय अपार करुणा में भर आया और अपनी रुलाई रोकने के लिए मुझे अपने ओठों को कसकर भींचना पड़ा।

जिस युवती ने मुझसे गलियारे में बातें की थीं; वह अन्दर आई और मुझे बड़े आश्चर्य से देखने लगी।

'अच्छा, तो आपके बच्चे मिल गये ? यही हैं ?'

'जी हाँ।' मैंने बड़ी ही बेचैनी से कहा।' क्या मुझे काग़ज़ों पर दस्तखत करना पड़ेंगे? मैं इन्हें अभी ही ले जाना चाहती हूँ।'

लिखा-पढ़ी में ज्यादा समय नहीं लगा। उन्होंने मेरा नाम, पता, धन्धा और जहाँ मैं काम करती थी उसका ठिकाना लिख लिया।

मेरे दाहिने हाथ में एक बड़ा-सा बस्ता था और बाएँ हाथ में सौदा खरीदने की एक बड़ी सी टोकनी; फिर भी, किसीतरह मैंने एक हाथ में वाल्या को और दूसरे से वास्या को उठा लिया। लड़का इतना कमज़ोर था कि वह सीधा बैठ भी नहीं सका। झटसे, मेरे कन्धे पर लुढ़क गया

'अच्छा जी, नमस्ते।' मैंने चलते-चलते दफ्तर के क्लर्क से कहा दूसरे लोग मुझे दरवाज़े तक पहुँचाने साथ आये।

इसबार मैं पिछवाड़े के दरवाज़े से नहीं, शान के साथ अगले फाटक से जारही थी। वह अधेड़ सिपाही अभी पहरे पर ही था। मुझे देखते ही पहिचान गया।

'अच्छाजी, तो ये हैं आपके बच्चे! पहले ही क्यों नहीं बतला दिया कि आप इन्हें गोद लेने आई थीं?'

दोनो बच्चे, बस्ता और टोकरी एक साथ उठाकर चलने में मुझे बड़ा कष्ट होरहा था। सिपाही ने मुझे एक युक्ति सुझाई।

'क्या आपकी टोकरी खाली है? लड़के को उसमें लेटा दीजिये। वह उसे आराम भी मिलेगा।'

मुझे थोड़ी हिचकिचाहट हुई।

सिपाही ने मेरा साहस बढ़ाते हुए कहा: 'शर्माने की जरूरत नहीं है जी। बच्चा आराम से चला जायगा।'

और वास्या को टोकरी में लेटाने में उसने मेरी सहायता भी की। टोकरी में लेटाते ही वह गुड़ीमुड़ी होकर तत्काल सो गया।

अब हमारे चारों ओर एक भीड़ जमा होगई थी। औरतें विशेषरूप से दिलचस्पी लेरही थीं।

सिपाही ने भीड़वालों से कहा: 'इन बहिनजी ने दो अनाथ बच्चों को गोद लिया है।'

मैंने वाल्या की ओर देखा। वह भी बिलकुल थक गई थी। तभी सिपाही से सलाहकर एक औरत मेरे पास आई और बोली:

'देखो बहिन, मुझे अपनी मदद करने दो। टोकरी का एक फन्दा तुम थामो और दूसरा मैं थामती हूँ। तुम्हें भी वजन नहीं लगेगा और बच्चे को भी तकलीफ़ न होगी।'

सलाह अच्छी ही थी और मैंने उसे स्वीकार कर लिया। अब दूसरी औरत आगे आई।

'और मैं लड़की को उठा लेती हूँ। हम तुम्हारे साथ चली चलेंगी।'

वाल्या किसीके पास जाने को राज़ी नहीं हुई, परन्तु किसीने ध्यान नहीं दिया। दूसरी औरत ने उसे उठा लिया और हमने क़दम बढ़ाये।

सिपाही ने बड़ी ही भावुकता से कहा: 'अच्छा बहिनजी, परमात्मा तुम्हें...।' परन्तु वह लजा गया। बात पूरी न कर सका। तटस्थ भाव से दूसरी ओर देखने लगा।

चूँकि ट्राम का स्टेशन मेरे कमरे से काफी दूर पड़ता था और वहांतक चलकर जाना मेरे बूते का नहीं था, इसलिए मैंने समीप के चौराहे से टैक्सी करना ठीक समझा।

टैक्सी स्टैण्ड पर लम्बी-सी लाइन लग रही थी। मेरी साथिनें लाइन के आगे चली गईं और उनमें से एक ने कहा:

'नागरिक बन्धुओ, इस बहिन को पहले टैक्सी कर लेने दीजिये। इन्हें अपने बीमार बच्चों को घर ले जाना है।'

मेरी दूसरी संगिनी ने उसकी भूल सुधारते हुए कहा: 'अपने नहीं। दूसरे के बच्चे।'

लोगों ने खुशी-खुशी जगह दे दी। एक टैक्सी आकर रुकी। किसी ने मेरे लिए दरवाज़ा खोल दिया और किसी ने अन्दर बैठने में मेरी सहायता की। मैं तो लोगों का यह सौहार्द्र देखकर चकित ही रह गई।

'अच्छा जी, नमस्ते जी!' मेरी सहायिकाओं ने शुभेच्छाएँ प्रकट कीं। मैंने हाथ हिलाकर उनका अभिवादन लौटाया और गाड़ी चलदी!

गाड़ी चलने पर मुझे खयाल आया कि अरे, जल्दी-जल्दी में मैं उन दयालु महिलाओं के नाम-पते पूछना भी भूल गई! मुझे अपने आप पर बड़ा गुस्सा आया। पता मालूम कर लेती तो उनका आभार ही मानती।

वास्या तो अपनी टोकरी में सोया था। कह नहीं सकती कि वह सोया था या बेहोश पड़ा था। और वाल्या मेरी पीली बरसाती में लिपटी ऊँघने लगी थी।

केन्द्रीय संस्था के फाटक पर जो चौकीदार था उसे मेरा वह साज-सामान देखकर बड़ा ही आश्चर्य हुआ। उसने कहा: 'अरे, आप यह क्या लेआई हैं?'

'सो बाद में बतलाऊँगी। पहले महरबानी कर गाड़ी वाले का किराया चुकादो और फिर आकर मेरी मदद करो।'

उसने मेरा बस्ता और वाल्या को लेलिया। मैंने वास्या की टोकरी उठाई। जन्तुशाला में साथ काम करनेवाली मेरी सहायिका भी दौड़ी आई और कहने लगी:

'अरे, ये तो खरहों से भी गये-बीते हैं। देखो न, कितने कमज़ोर हैं!'

मैंने उससे चटपट पानी तपाने के लिए कहा ताकि बच्चों को नहलाया जासके। उस भली औरत ने भी बड़ी ही फुर्ती से काम किया। उसने दो साफ थैलियों में थोड़ी-सी पुआल भरी, गरम पानी का बर्तन लेआई और बिस्तरा बनाने के लिए कुर्सियों को पास-पास रखने में मेरी मदद करने लगी। और जबतक मैंने कुर्सियों के पाये बांधे उसने बच्चों के कपड़े खोल दिये।

वास्या अभीतक बेहोश था; उसने आँखें तक न खोली थीं। लेकिन वाल्या जाग गई थी और चुपचाप सारी तैयारियां देख रही थी।

ज़ेनिया भी चुप खड़ी देखती रही। उसदिन वह अचानक ही गांव से आपहुँची थी। परन्तु मुँह से उसने एक शब्द भी नहीं कहा। एक कोने में दिवाल से टिकी चुपचाप खड़ी देखती रही। बिलकुल तटस्थ और उदासीन उसके चेहरे पर निर्लिप्तता के सिवा और कोई भाव नहीं था।

मैंने उसे बहुतेरा पास बुलाया: 'ज़ेनिच्का, पास आकर देख तो सही, कितने प्यारे बच्चे हैं!' लेकिन वह टस से मस नहीं हुई?

जब बच्चों को नहलाया जारहा था तो सेरेज़ा काम से लौटा। सबकुछ देख-भालकर वह देहलीज पर ही विस्मयविमूढ़-सा खड़ा रह गया।

अब पहलीबार मुझे लगा कि कहीं घर के बड़े बच्चों को मेरा यह कृत्य बुरा न लगे; इसलिए मैंने लँगड़ाते हुए कहा: 'मुझे ये स्टेशन पर मिल गये और मैं इन्हें उठा लाई।'

सर्जी बच्चों की ओर एकटक देख रहा था।

मैंने सारी घटना कह सुनाई।

'ठीक है, ठीक है! अम्मां!' उसने व्यग्रतापूर्वक कहा।

उसके व्यवहार से प्रोत्साहित होकर मैं आगे बोली:

'यहाँ इन्हें अच्छा खाने-पीने को मिलेगा और ये शीघ्र ही हृष्ट-पुष्ट होजाएँगे। फिर पतझड़ में संभवत: हम इन्हें किसी अनाथालय में भर्ती करा देंगे।'

'ठीक है, ठीक है, देखा जायगा।' सर्जी उसीतरह दुहराता रहा। असल में उस बेचारे की समझ में नहीं आरहा था कि ऐसी परिस्थिति में वयस्कों को किसतरह का व्यवहार करना चाहिये।

वह समीप आगया और बड़ी देरतक बच्चों को ध्यानपूर्वक देखता रहा।

'अच्छा, तो यह सब यों हुआ' अन्त में इतना कहकर वह अपनी खिड़की पर जा बैठा।

ज़ेनिया अभीतक चुप कोने में खड़ी थी।

मैंने अपने बच्चों को पोंछा। उन्हें धुले हुए कपड़े पहिनाये। फिर जौ के पानी में रोटी गलाकर उन्हें खिलाने की तैयारी करने लगी।

'क्या घर में और कुछ नहीं?' सर्जी ने बड़े ही कठोर स्वर में पूछा।

'है क्यों नहीं बेटा? खाना तैयार है। लेकिन देखो न बेचारों के पेट सूज रहे हैं। ऐसे में खाना खिलाना घातक होगा।'

वास्या के गले में तो पानी भी नहीं उतर रहा था। किसीतरह, जबर्दस्ती दो घूँट, उसके गले में उतारे गये। लेकिन वाल्या तो स्वयं खा सकती थी। उसने बड़े मज़े से खाया और ओठ चाटने लगी। फिर वे पुआल के गद्दों पर लेट गये और तत्काल खर्राटे भरने लगे।

मैं, ज़ेनिया और सेरज़ा खाने बैठे। नये बच्चों के बारे में हमने फिर कोई चर्चा नहीं की। ज़ेनिया उसीतरह मुँह सीये रोटी खाती रही। सर्जी ने

अपने कारखाने के साथियों का किस्सा छेड़ने का प्रयत्न किया। और मेरा दिल इस खयाल से बैठने-सा लगा कि मेरे पति क्या कहेंगे!

मैं अपने पति को भलीभांति पहिचानती थी और अच्छीतरह जानती थी कि बीमार बच्चे की सहायता करने से वह हाथ नहीं खींचेंगे। परन्तु पचास बरस की उम्र में दो नन्हें बच्चों को लेना समझदारी तो नहीं ही कही जा सकती थी।

ज़ेनिया सोने की तैयारी करने लगी। उसने अभीतक अपना मुँह नहीं खोला था।

जिन कुर्सियों पर वाल्या और वास्या सोये हुए थे मैं उनपर झुककर दोनों बच्चों को देखने लगी। सर्जी मुझे ध्यान से देख रहा था।

मैंने ज़ोर से कहा: 'पतझड़ के बाद इन्हें किसी अनाथालय में भर्ती कराना ही होगा।'

'नहीं,' सर्जी बोला, 'अनाथालय भेजने की कोई ज़रूरत नहीं। यहीं रहने देना। हम किसीतरह निबाह कर लेंगे।'

वह बिना कपड़े उतारे ही लेट गया! आज सदा की तरह सोने से पहले प्रणाम भी नहीं किया था। और मुँह फ़ेरकर ऊँघने का प्रयत्न करने लगा।

मैं मेज़ के आगे अकेली रह गई। बड़ी बत्ती बुझा दी गई थी। सिर्फ टेबल-लैम्प जल रहा था। मैंने स्टोव जलाकर पानी गरम रखा। घर में सन्नाटा था और शान्ति काटे खा रही थी। अन्त में दरवाज़े का कुण्डा खड़का और मेरे पति की परिचित पदचाप सुनाई दी।

पहले तो उन्हें टेबल-लैम्प के मद्धिम उजाले में कुछ दिखाई नहीं दिया। वह मेज़ के आगे आ बैठे और मैंने भोजन परोस दिया।

'कहोजी, क्या हाल हैं ?' उन्होंने सदा की भाँति पूछा और तब कहीं उनका ध्यान जमी हुई कुर्सियों की ओर गया और वह बोले: 'अरे, यह क्या है ?'

मैंने उन्हें सारा किस्सा कह सुनाया। वह दत्तचित्त होकर सुनते रहे। बीच में एक सवाल तक न पूछा। उनके चेहरे पर नाराजी या या खुशी की ज़रा सी झाँई तक न दिखलाई दी।

जब मेरी बात पूरी होगई तो वह उठकर कुर्सियों के समीप गये और बड़ी देरतक बच्चों के चेहरों की ओर टक लगाये देखते रहे।

उन्होंने विचारों में डूबे हुए कहा: कितने छोटे हैं ये ? पर तुम्हारा क्या होगा ? इस उम्र में मुश्किल नहीं जायगा ?'

'अभी गर्मियों का मौसम है। मैं इन्हे गाँव ले जाऊँगी। जुताई के महीने में छुट्टी ले लूँगी और शरद में जब ये जरा सशक्त होजाएँगे तो किसी अनाथालय में भर्ती करा दूँगी।' मैंने दिनभर रटे हुए वाक्यों को दुहरा दिया।

'अनाथालय ?' मेरे पति ने मुझे सन्देहपूर्वक देखते हुए कहा: 'ठीक है, देखा जायगा।'

वह मेज़ पर आ बैठे और भोजन की ओर, जो इस बीच ठण्डा हो-गया था, हाथ बढ़ाया; परन्तु खा न सके।

'चलो, खाना शुरू करो।' मैंने आग्रहपूर्वक कहा।

'हाँ-हाँ !' मेरा समर्थन करते हुए वह बोले। परन्तु दूसरे ही क्षण थाली को एक ओर हटा दिया और कहने लगे: 'सर्जी और ज़ेनिया का इस बारे में क्या खयाल है ?'

'ज़ेनिया तो कुछ बोली नहीं; परन्तु सर्जी ने कहा है कि ठीक है और हम किसीतरह निबाह कर लेंगे।'

मानों अभीतक सर्जी की सहमति की प्रतीक्षा ही कर रहे हों इसतरह निश्चिन्त होकर मेरे पति ने कहा: 'हां लड़का ठीक ही तो कहता है। हम किसीतरह निबाह कर ही लेंगे।'

एक लम्बे अर्सेतक ज़ेनिया नये बच्चों से ईर्ष्या करती रही। उसकी चुप्पी का स्थान अब लगातार की बर्राहट ने ले लिया था। मैं अकसर बच्चों की ओर उसे अविश्वास के भाव से देखते और मन ही मन बड़बड़ाते हुए पाती थी। परन्तु इतना सब होते हुए भी एकबार गाँव में बच्चों को नहलाने में उसने मेरी सहायता की थी और एकबार उनके साथ खेलना भी स्वीकार कर लिया था।

लेकिन जब कभी वह बच्चों की ओर ध्यान देती या उनका कोई काम करती तो यह जतलाना नहीं भूलती थी कि वह ऐसा मेरी वजह से कर रही है बच्चों की वजह से नहीं। उदाहरण के लिए एकबार हम कतुआर के स्टेशन पर उतरे। मैं वास्या को गोद में लेने जारही थी कि ज़ेनिया ने उसकी ओर आंखें तरेरते हुए कहा: 'चल इधर आ, मैं उठाऊँगी तुझे।'

और उसे अपनी पीठपर लाद वह स्टेशन से बाहर चल पड़ी।

जबतक दोनों बच्चे सशक्त नहीं होगये, ज़ेनिया का यही क्रम चलता रहा और वह किसीतरह उन्हें निबाहती गई। परन्तु जैसे ही उनमें थोड़ी शक्ति आई ज़ेनिया की झल्लाहट और चिड़चिड़ापन लौट आया। जब कभी वाल्या मेरे समीप आकर दुलराने का प्रयत्न करती तो वह बड़ी शान से उसे फटकार देती:

'जा दूर हो, यहाँ से। मेरी अम्माँ को तङ्ग मत कर।'

'मेरी' शब्द पर वह बहुत ही ज़ोर देती थी। परन्तु वाल्या इतनी छोटी थी कि उसकी समझ में कुछ भी नहीं आता था। शीघ्र ही वाल्या और फिर वास्या भी मुझे 'अम्माँ कहकर पुकारने लगे थे।

मेरे पति छुट्टी के दिन ही गाँव आसकते थे। वाल्या और वास्या के प्रति उनका व्यवहार बड़ा ही स्नेहपूर्ण और सहिष्णुता का था। परन्तु स्नेह के बन्धन उतने दृढ़ नहीं हो पाये थे। और मैंने पाया कि ज़ेनिया इसका दुरुपयोग करने में कभी भी चूकती नहीं थी।

जैसे ही पिताजी दीख जाते वह उनके सामने दौड़ी जाती और उनका हाथ पकड़कर बच्चों से दूर घसीट लेजाती थी। वह अपने विचारों में इतने डूबे रहते थे कि इस ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता था। कई दिनोंतक ज़ेनिया की यह चालबाजी उनकी समझ में नहीं आई और वह उसके इस व्यवहार को उसके बढ़ते हुए प्रेम की अभिव्यक्ति ही समझते रहे। ज़ेनिया ने वाल्या को सख्त ताक़ीद कर रखी थी कि वह डेविड इवानोविच को 'चाचा' कहे। कई दिनों तक स्वयं मेरे ध्यान में भी यह बात नहीं आ पाई। परन्तु एकदिन बगीचे में मैंने दोनों की बातें सुनलीं:

ज़ेनिया वास्या के आगे बैठी, जिस दिशा से मेरे पति आरहे थे उधर, हाथ का इशारा करती हुई कह रही थी: 'वह चाचा आरहे हैं।'

वह ज़ोर देकर और आग्रहपूर्वक कहती जारही थी: 'चाचा, चाचा, अच्छीतरह याद करले वह तेरे चाचा हैं।'

और वास्या हठपूर्वक कह रहा था: नहीं बाबूजी हैं। बाबूजी, बाबूजी, बाबूजी हैं।'

ज़ेनिया ने काफी देरतक प्रयत्न किया, परन्तु जब सफलता न मिली तो जिस टहनी से वास्या खेल रहा था उसे उसके हाथ से छीनकर फेंक दिया और आप वहाँ से भाग गई।

पन्द्रह मिनट बाद मैंने उसे घास पर औंधी लेटे और सिसकते हुए पाया।

'ज़ेनिच्का, क्या हुआ? रो क्यों रही है?' मैंने उसके पास बैठकर पूछा।

उसने शिकायत की: 'मैं कहती हूँ, चाचा कह और वह मानता ही नहीं; बस, 'बाबूजी' 'बाबूजी' की रट लगाये रहता है। वह हमारे बाबूजी हैं, हमारे, हमारे, हमारे!'

और वह जमीन पर पांव पछाड़ने लगी।

मैंने बड़ी ही सावधानी से समझाना शुरू किया: 'पर ज़ेनिच्का, इससे फर्क ही क्या पड़ता है? उसके बाबूजी कहने से क्या मैं या तेरे पिताजी तुझे प्रेम करना छोड़ देंगे या कम कर देंगे? पागल कहीं की! ज़रा इसका भी तो खयाल कर कि बारया कितना छोटा है और फिर हमारे सिवा उसका है ही कौन?'

ज़ेनिया मुँह बिगाड़े सुनती रही। मैं काफी देरतक उसे समझाती रही। हर बात दो-दोबार तीन-तीनबार दुहराकर कही। जिसदिन लेना हमारे घर में आई थी उसदिन सेरेज़ा ने जैसा व्यवहार किया था, उसे मैं भूली नहीं थी। यह तो बिलकुल उजागर है कि बड़े बच्चे छोटे बच्चों से ईर्ष्या करते ही हैं। उन्हें डर रहता है कि छोटा बच्चा प्रेम में हिस्सा बँटा लेगा।

और ठीक सेरेज़ा की तरह ज़ेनिया भी धीरे-धीरे समझौता करती गई। अब वह उनके साथ ज्यादा नर्मी से पेश आने लगी थी और यदि वे हमारे पास आने का प्रयत्न करते थे तो पहले की तरह बिगड़ती भी नहीं थी।

लेना की तो जाने के बाद से, एक पहुँच की चिठ्ठी छोड़, और कोई खबर नहीं मिली थी।

सर्जी कारखाने में काम करता और हवाईस्कूल में सीखता रहा। ज़ेनिया के स्कूल की छुट्टियाँ थीं और वह अपना समय कतुआर में छोटे बच्चों के साथ बिताती थी।

शरदऋतु कब शुरू हुई हमें पता भी न चला। हमारी भूरी अब बूढ़ी होगई थी और उसका दूध उड़ गया था। हमारे खान-पान पर उसका बड़ा ही बुरा असर हुआ। केन्द्रीय संस्था की ट्रेडयूनियन समिति ने अपना एक भी वादा पूरा नहीं किया था। बच्चों के राशनकार्ड भी नहीं मिले थे। जब हम लौटकर शहर आये तो हमारी आर्थिकस्थिति इतनी बिगड़ चुकी थी कि हमें विवश होकर वाल्या और वास्या को अनाथाश्रम में भर्ती कराने की बात सोचना पड़ी। इसके सिवा पड़ौसी लोग भी टीका-टिप्पणी करने लगे थे।

इधर मेरे पति के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करनेवालों की संख्या भी अनायास ही बढ़ गई थी। लोग-बाग कहते:

'बेचारा धोबी के गधे की तरह लद गया है। उड़ाऊ औरतें भी कई देखी हैं लेकिन यह जगदम्बा तो लाखों में एक है।'

कुछ इससे भी दो क़दम आगे बढ़कर कहते थे:

'बेचारे नन्हें बालक, न घर के रहे न घाट के! इससे तो, बल्कि, अनाथालय में ही आराम से रहते! वहाँ फटे चिथड़ों में तो न घूमना पड़ता।'

इन बातों से मुझे बड़ा ही कष्ट होता था। उनदिनों, सच ही, कपड़ों की हमारी स्थिति बड़ी ही शोचनीय थी। छोटे बच्चों को बड़ों के उतरे हुए कपड़ों से ही काम चलाना पड़ता था। और पुराने कपड़ों को काट-छाँट कर नया बनाने के लिए अब लेना भी हमारे साथ नहीं थी।

ये सब बातें इतनी दुःखदायी थीं कि अन्त में बच्चों को अनाथालय भेजने का मैंने निश्चय ही कर लिया।

शहर लौटकर मैं एक स्थानीय शिक्षासमिति के दफ्तर में गई।

उन लोगों ने मुझे वोल्खोन्स्काया स्ट्रीट पर एक अनाथालय का पता दिया। वहाँ के अधिकारी बड़े ही सज्जन थे। संस्था भी खुशहाल मालूम

पड़ती थी। बच्चे भी साफ-सुथरे, स्वस्थ और खाते-पीते सुखी थे। उनके कपड़े-लत्ते भी मेरे बच्चों की अपेक्षा अच्छे ही थे।

परन्तु साथ ही, मुझे यह भी कहा गया कि बच्चों को 'डिफ्थेरिया' की रोक-थाम के लिए टीका लगवाना पड़ेगा। इसका मतलब था कि अभी तीन सप्ताह उन्हें और भर्ती नहीं किया जासकता था। यह सुनकर मुझे मन ही मन बड़ी खुशी हुई।

और जब तीन सप्ताह भी बीत गये तो मेरे पास बच्चों को न भेजने का कोई बहाना न होते हुए भी मैं आज-कल, आज-कल करने लगी।

परन्तु मेरे पति मेरे हीले-हवालों से ज़रा भी सहमत नहीं थे।

एकदिन जब मैं थककर जल्दी ही सोगई तो वह मेरे सिरहाने आ बैठे और इसी विषय को लेकर चर्चा शुरू करदी। उन्होंने कहा:

'आखिर, तुम बच्चों को सरकार के सिपुर्द कब करने जारही हो? ज़रा अपनी शकल तो देखो? क्या हुलिया बना रखा है? क्यों आत्महत्या करने पर तुली हो? ऐसे न तो छोटों की ठीक से देख-भाल हो पाती है न बड़े बच्चों की ओर ही ध्यान दे पाती हो। ज़ेनिया बेचारी के बुरे हाल होरहे हैं। तुमसे प्यार के दो शब्द सुनने को तरसकर रह जाती है। इस बुढ़ापे में इतना बोझा लादना क्या उचित होगा? हाँ, अनाथालय में बच्चों की ठीक से सार-सँभाल न की जाती तो एक बात भी थी। पर तुम अपनी आँखों से देख आई हो कि सरकार उन्हें आराम पहुँचाने में कुछ भी उठा नहीं रखती है। इन दिनों शिशु-संस्थाओं के प्रबन्ध में किसीतरह की लापर्वाही नहीं होने दीजाती। उन्हें वहाँ जितनी सुख-सुविधा मिलेगी उतनी तुम उन्हें यहाँ रखकर कभी नहीं दे सकोगी।'

उनके तर्क इतने अकाट्य थे कि मुझे स्वीकार करना पड़ा और मैंने वादा कर लिया कि सवेरे पहला काम उन्हें अनाथालय भेजने का ही करूँगी।

अन्त में डेविड इवानोविचने मुझे दिलासा-सा देते हुए कहा: 'इसका यह मतलब नहीं है कि हम उनसे हमेशा के लिए पल्ला ही झाड़ लेंगे। छुट्टियों में उन्हें अपने घर लाएँगे और गर्मियों में देहात भी ले जाएँगे... स्वयं मुझे भी उनका अभाव बुरीतरह खटकेगा।'

इसके बाद मुझे नींद आगई।

सवेरा हुआ। मैंने ज़ेनिया और सेरेज़ा को कुछ न बतलाया। ज़ेनिया को तो स्कूल भेज दिया और सेरेज़ा को कारखाने रवाना किया। फिर अपने बच्चों को कपड़े पहिनाने लगी। मैंने छाती पर पत्थर रख उनके कागज़-पत्तर साथ लिये, उनके सब खिलौने बाँधे, नये कपड़ों में उन्हें सजाया, अच्छीतरह कंघी-चोटी की और जब कुछ करने को न रह गया तो रुँधे गले से कहा:

'चलो, घूमने चलें।'

हम घर से निकलकर सड़कपर आये।

सितम्बर का महीना था। हवा में सूखी पत्तियाँ उड़ने लगी थीं।

'चलो ट्राम पकड़लें।'

ट्राम में वास्या मेरी गोद में बैठा और वाल्या मुझसे सटकर मेरे पास। ट्राम-यात्रा से प्रफुल्लित होकर वे चिड़ियों की तरह चहचहाने लगे थे। परन्तु मैं उनकी खुशी में कोई हिस्सा न लेसकी; मनमारे चुप बैठी रही।

अनाथालय घर से काफी दूर था, लेकिन मुझे लगा कि रास्ता पलक-मारते ही कट गया। किसीने ट्राम से उतरने में हमारी सहायता की और हम धीरे-धीरे चलते हुए अनाथालय की इमारत के पास पहुँचे। फाटक पर पहुँचकर मैं ठिठक गई।

'अच्छा भई, अब हम यहाँ आगये हैं। मैं तुम्हें यहीं छोड़ जाऊँगी। तुम यहाँ कुछ दिन रहोगे और मैं फिर आकर तुम्हें ले जाऊँगी।' रास्तेभर

जिन शब्दों को रटती आरही थी, उन्हें बड़ी कठिनाई से बच्चों के आगे यन्त्रवत् दुहरा दिया।

सुनकर बास्या तो मेरे साये से चिपट गया और वाल्या मेरे पांवों से लिपट गई।

'तुम्हें यहाँ किसीतरह की तकलीफ नहीं होगी। बहुत से बच्चे हैं, ढेरों अच्छे-अच्छे खिलौने हैं और एक से एक बढ़कर दाइयाँ हैं।'

बच्चे तो और भी ज़ोरों से चिपट गये। मैंने दरवाज़े का कुण्डा खींचा तो अन्दर से ताला बन्द था।

कोई अनहोनी बात नहीं थी। मैं भी अपने घर में ताला लगाती थी।

अन्त में मैंने घण्टी बजाने का निश्चय किया।

पर 'करूँ न करूँ' की स्थिति में खड़े-खड़े हमें पन्द्रह मिनट होगये। अन्त में मैंने दसवींबार घण्टी बजाने के लिए हाथ बढ़ाया तो बड़े ज़ोरों से यह महसूस किया कि मैं इन बच्चों से कभी अलग नहीं होसकूँगी। मैंने झपटकर दोनों को उठा लिया और दौड़ती हुई ट्राम के नाके तक चली आई।

बच्चों ने एक भी प्रश्न न पूछा। और हम हँसते-खेलते घर लौट आये।

ज़ेनिया बैठी हमारी प्रतीक्षा कर रही थी।

उसने कुढ़कर पूछाः 'तुम लोग तब कहाँ गये थे?'

'घूमने गये थे।' मेरे बदले वाल्या ने जवाब दिया।

मैं कुछ न बोली।

वह सारा दिन मैं धड़कते दिल से अपने पति के लौट आने का इन्तज़ार करती रही। अपने सारे विवाहित जीवन में वह पहला ही अवसर था जब मैंने अपना वचन नहीं निभाया था।

वह हमेशा की तरह काम से लौटे, और दरवाज़े में खड़े होकर बच्चों के बिस्तरों की ओर एक दृष्टि डाली। मैंने चुपचाप उनकी दृष्टि का अनुसरण किया। कम्बल के नीचे सोये हुए बच्चे उनकी दृष्टि से छिपे न रहे।

मैंने अपराधी की तरह सिर नँवाकर धीरे से कहा: 'मैं ले तो गई थी परन्तु छोड़ आने का साहस न हुआ।'

'क्यों ?' उन्होंने भी उतने ही धीमे पूछा:' क्या वहाँ बच्चों के साथ अच्छा बर्ताव नहीं किया जाता है ?'

'नहीं, ऐसी बात तो नहीं है; परन्तु मेरा साहस न हुआ।'

वह धीरे-धीरे कहने लगे: 'मेरी तो कुछ समझ में ही नहीं आता है। सभी कुछ तो तै होचुका था।'

दिन में मुझपर जो कुछ बीत चुका था वही इतना था कि अब कुछ और सुनना या सहना मेरे बूते का नहीं रह गया था। यदि मेरे पति मुझ-पर नाराज़ होते, झिड़कते या चिल्लाते तो शायद मैं सह लेती। परन्तु वह इतनी शान्ति, प्यार और नम्रता से बोल रहे थे कि मैंने दोनों हाथों से अपने कान बन्द कर लिये और ज़ोरों से सिर हिलाती हुई बार-बार यही दुहराने लगी:

'मेरा साहस न हुआ...मेरा साहस न हुआ...मेरा साहस...'

सवेरे मैं बच्चों को लेकर कतुआर चली गई। और शाम को जब वह घर लौटे तो घर से भाग गई। कल की घटना अभीतक मेरे दिमाग़ में ताज़ा थी।

वास्या अपने पिताजी के गले से झूम गया।

मैंने सुना, वह पूछ रहे थे: 'अम्माँ कहाँ है ?'

सब बच्चे एक स्वर में चिल्ला पड़े: 'घर के अन्दर हैं।'

मैं पिछवाड़े के दरवाज़े से होती हुई बाहर निकल गई। जिस जगह मेरा भाई मिशा बच्चों को प्राकृतिकविज्ञान की कहानियां सुनाया करता था वहां अब एक कुञ्ज-सा बन गया था। मैं उसीमें छिपकर बैठ गई।

मैं बार-बार अपने आप से प्रश्न करने लगी: यदि आज मिशा होता तो वह क्या कहता ?

लेकिन मिशा तो कभी का हमारे पास से जाचुका था।

मेरे पति ने शीघ्र ही मुझे ढूंढ़ निकाला; और जैसे कुछ हुआ ही न हो, और मुझे मास्को गये महीनों होगये हों इसतरह मास्को की ताज़ा खबरें सुनाने लगे। उनका यह व्यवहार देख मैं भी खुल गई और इसतरह बोलने-बतलाने लगी मानों कोई बात ही न हो। फिर इधर-उधर की बातें करते और एक दूसरे का हाथ थामे हम घर में लौट आये। बच्चे बरामदे में खेल रहे थे।

उन्होंने ज़ोर से मेरा हाथ दबाया और बड़े ही स्नेहपूरित स्वर में बोले: 'नटाशा, शायद तुम्हीं ठीक हो।'

× × ×

अक्तूबर के अन्तिम सप्ताह में हमें लेना का एक पत्र मिला। यह उसका दूसरा पत्र था। व्याकरण और ह्रस्व-दीर्घ की भूलें तो हमेशा की तरह बीसियों थीं परन्तु इसबार लिखावट देखते ही मैं समझ गई कि लेना रानी मुसीबत में है। उसने लिखा था:

'प्यारी अम्मां, मेरी समझ में नहीं आपाता कि क्या करूं ? पिछली गर्मियों में दादी अपनी सगी पोती से मिलने अर्मावीर' गई थीं। मैं चूंकि बाग़वानी सीख रही थी, इसलिए मुझे यहीं छोड़ गईं। मैंने जो कुछ सीखने का था सब सीख लिया। इसी बीच अर्मावीर में दादी का देहान्त होगया। अब मैं यहां अकेली हूं। मेरी पढ़ाई भी खत्म होगई है। दूसरे, मौसम

सर्दियों का है और बागवानी का कोई काम भी नहीं होसकता है। मेरी समझ में नहीं आता कि क्या करूँ? प्यारी अम्माँ, मैं लौट आना चाहती हूँ। मैं वादा करती हूँ कि नियमितरूप से स्कूल जाऊँगी। मुझे यहाँ अकेले डर लगता है। मुझे लौट आने दो। पिताजी और तुम मेरे लिए जो कुछ ते कर दोगी वही करूँगी। कहोगे तो स्कूल जाऊँगी और कहोगे तो काम करूँगी। मैं हाथ जोड़कर विनती करती हूँ कि मुझे लौट आने दो। अब कान पकड़ती हूँ कि तुमसे कभी अलग न हूँगी। किराये के पैसे मेरे पास हैं। दादी दे गई थी। झट से लिखना कि क्या मैं चली आऊँ?' इसबार पत्र के अन्त में उसने छोटे-बड़ों को यथायोग्य प्रणाम और आशीर्वाद भी लिखा था।

सच तो यह है कि उसका पत्र पाकर मैं बड़ी ही उलझन में पड़ गई। हम लेना की अनुपस्थिति के अभ्यस्त होगये थे और हमारा यह विचार दृढ़ हो चला था कि वह कभी लौटकर नहीं आयेगी। और अब वह लौट आने के लिए उतावली होरही थी। परन्तु इतने दिनों की अनुपस्थिति के बाद उसका हमारे परिवार के साथ मेल कैसे बैठता? और, सत्र के ठीक मध्य में आकर वह करती भी क्या? पढ़ने में वह यों ही पिछड़ी हुई थी और काम करने की अभी उसकी उमर नहीं थी।

परन्तु दूसरी कठिनाई यह भी थी कि वह अभी सिर्फ पन्द्रह साल की थी और एक अपरिचित शहर में अकेला रहना किसी भी दिन भयङ्कर साबित होसकता था।

उसी रात समस्या पर विचार करने के लिए हम पति-पत्नी की 'गोल-मेज़ परिषद' बैठी।

मेरे पति का आग्रह था कि उसे फौरन बुला लिया जाय। सिर्फ साव-धानी यह रखना थी कि वह बेकार बैठी न रहे। होसके तो उसकी शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध कर दिया जाय और उसकी जिम्मेवारी मेरे सिर थी।

हमने उसे आने के लिए तार कर दिया और नवम्बर का महीना लगते-लगते वह आ भी गई। वह कुछ दुबली होगई थी और उम्र में बड़ी मालूम पड़ती थी। लेकिन आश्चर्य तो मुझे एक दूसरी बात देखकर ही हुआ। वह अपने ओठ सस्ते और भड़कीले रङ्ग से रँगने लगी थी!'

'लेनोच्का, तुमने अपने ओठ क्यों रँगे हैं?'

उसने बड़े ही गर्व से जवाब दिया: 'क्रास्नोदार में तो सभी कोई ओठ, पलकें और नाखून रँगते हैं।'

परन्तु हमने मास्को में उसे उसकी क्रास्नोदार की आदत छोड़ने के लिए मजबूर किया और उसमें सफल भी हुए।

अब हम स्कूलों का चक्कर लगाने लगे। लेना चुपचाप मेरे पीछे हो लेती और प्रवेशिका परीक्षा में अच्छे नम्बर लाने का निश्चय भी प्रकट करती थी। परन्तु मुझे उसकी बात का भरोसा नहीं होता था। वह हमेशा से मनमौजी और उत्साही थी। उत्साह की दौड़ में उसे आगा-पीछा कुछ न सूझता था। बस, कल्पना के घोड़े दुड़वाली। मेहनत से हमेशा जी चुराती थी। इधर परीक्षा के दिन आते उधर उसके पेट में ज़ोरों का दर्द शुरू होजाता था। मैंने कितनीबार उसकी यह झूठ पकड़ी थी। अब तो वह भी अपने बचपन की इन शैतानियों को याद कर हँसती थी। क्रस्नोदार से लौटने के बाद परिवार के एक वयस्क और जिम्मेदार सदस्य की हैसियत से उसने छोटे बच्चों की पढ़ाई का भार भी अपने जिम्मे लेलिया था।

इतना तो मुझे मुक्तकण्ठ से स्वीकार करना ही पड़ेगा कि घर में छोटे बच्चों की उपस्थिति को परिवार में अकेले उसीने उत्साहपूर्वक स्वीकार किया था। आते ही वह उनके कपड़े सीने में लग गई। वास्या के लिए छोटा-सा सूट बना दिया और अपने पोलके काट-पीटकर वाल्या के झबले सी दिये। घर में जो थोड़ा-सा नमदा था उसके एक जोड़ जूते भी बना डाले। क्योंकि जूतों की हमारी समस्या अभीतक हल नहीं हो पाई थी।

स्कूलों का चक्कर तो निरर्थक ही गया। पांचवी कक्षा में लेना भर्ती नहीं होना चाहती थी और सत्र के ठीक मध्य में पन्द्रह साल की लड़की को कोई छठवीं कक्षा में भर्ती करने के लिए तैयार नहीं था।

लेना ने दुःख तो प्रकट किया परन्तु उसकी ईमानदारी में मुझे सन्देह था। मुझे इस बात का भी भरोसा नहीं होता था कि वह घर पर पढ़कर परीक्षा में सम्मिलित होजायेगी। फिर क्या करती? उसे बेकार छोड़ देती? लेकिन वह तो उसके और हम सबके हक़ में और भी बुरा होता।

एकदिन, जब स्कूलों का चक्कर लगाते-लगाते हार गई तो, मैंने उससे कहा: 'अब स्कूल की तो कोई आशा नहीं रह गई; इसलिए तुझे कहीं काम-धन्धे से ही लगाना पड़ेगा।'

मेरा यह निर्णय सुनकर लेना तो खुशी के मारे बावली होउठी। असल में वह सुस्त नहीं थी। उसमें गजब की क्रियाशक्ति थी। इन दिनों वह अपनी गिनती बड़ों में करने लगी थी। काम उसमें जिम्मेवारी की भावना उत्पन्न करता था और उसके तथाकथित बड़प्पन का परितोष भी होजाता था।

मैं जिस रासायनिक औषधशाला में प्रयोग के लिए सफेद चूहे दिया करती थी, हम वहां प्रोफ़ेसर एन० से मिलने गयीं। एकबार मैंने उन्हें प्रयोगशाला में सहायक न होने की शिकायत करते सुना था।

प्रोफ़ेसर एन० बड़े ही हँसमुख, अध्यवसायी परन्तु चुभती बात कहनेवाले आदमी थे। लेना उनसे पहले भी मिल चुकी थी।

मिलने के लिए जाने से पहले लेना ने अच्छीतरह अपने कपड़ों की इस्त्री की, नाखून काटे, ढङ्ग से कँन्घी-चोटी की और 'टिपटाप' होगई। रास्ते में उसे देखकर मैंने सन्तोष की सांस ली। चलो, लड़की इतने ढङ्ग तो सीख गई थी।

औषधशाला के फाटक पर वह न जाने कहां गुम होगई; परन्तु थोड़ी ही देर बाद जब मैंने हाल में प्रवेश किया तो लौट आई थी। मैंने देखा तो पाँव तले की धरती खिसक गई। मैं चिल्ला पड़ी:

'हे परमात्मा, अरी कम्बख्त, यह तूने क्या किया? फिर से 'लिपस्टिक' लगाया?'

उसने चिरौरी की: 'अम्मां, ज़रा-सा लगाया है। सिर्फ एक बूँद। तुम्हारे सिवा किसीको मालूम भी नहीं होगा।'

प्रोफ़ेसर एन० बड़े तपाक से मिले। परन्तु मैंने पाया कि वह लेना को बड़ा ही आलोचनात्मक और कुछ विनोदपूर्ण दृष्टि से देख रहे थे। मैंने अपने आने का कारण बतलाया।

मैंने बड़ी ही दुविधा के भाव से कहा: 'आपकी प्रयोगशाला में कहीं...'

'हां-हां जरूर-जरूर! काम की क्या कमी है? परन्तु यह काम करना चाहती भी है?'

लेना ने बड़े जोश-खरोश के साथ स्वीकृतिसूचक सिर हिलाया। चमकीले फ़र्शवाली लम्बी-चौड़ी प्रयोगशाला देखते ही वह लट्टू होगई थी।

'अच्छी बात है।' प्रोफ़ेसर साहब ने खुश होकर कहा। 'लेकिन एक बात का खयाल रखना होगा। यदि सच में काम करना है तो कल सवेरे ठीक नौ बजे यहां पहुँच जाओ। परन्तु ओठों को रँगकर मत आना। हम यहां रँगे-चुँगे ओठ वालियों को काम पर नहीं रखते।' अन्तिम बात उन्होंने बड़े ही चुभते ढङ्ग से कही थी।

लेना के कान तक सुर्ख होगये। परन्तु दूसरे ही क्षण वह खिलखिलाकर हँस पड़ी और प्रोफ़ेसर की ओर हाथ बढ़ाकर बोली:

'मैं वादा करती हूँ कि भविष्य में कभी ओठ नहीं रँगूंगी। अच्छा तो कल सवेरे नौ बजे!'

और सच ही उसदिन के बाद से लेना ने कभी 'लिपस्टिक' नहीं लगाया। मैंने भी यह सोचकर कि प्रोफ़ेसर एन० ने उसे अच्छी शिक्षा देदी है, उस घटना का फिर कभी जिक्र ही नहीं किया।

परन्तु लेना के रँगे हुए ओठ देखकर मैंने महसूस किया कि मेरी लड़कियाँ अब बड़ी होरही थीं। देर-अबेर उनके जीवन में किसी से प्रेम करने का क्षण आने ही वाला था।

अभीतक मेरे सभी बच्चे मुझसे खुले हुए थे। परन्तु क्या आगे भी वे इसीतरह अपने मन की बात मुझसे निःसंकोच होकर कहते रहेंगे? मेरे सफेद बाल और हमारी उम्र का व्यवधान क्या बाधा बनकर खड़ा न होगा? क्या अपने प्रथम प्रेम की बात वे मुझे बिलकुल निःसंकोच होकर कह सकेंगे?

लेकिन अभीतक तो इसतरह की कोई बात पैदा नहीं हुई थी। लेना प्रयोगशाला के काम में पूरीतरह घुल-मिल गई थी। प्रोफ़ेसर एन० अपने काम के सम्बन्ध में बड़े ही चौकस रहते थे और अपने सहयोगियों से भी वैसी ही आशा रखते थे।

और ज़ेनिया तो अभी बच्चा ही थी।

× × ×

फ़रवरी का महीना था। हम रहने के लिए गांव चले गये थे। मैंने जन्तुशाला का काम छोड़ दिया था। मेरे पति का कारखाना जो मंजिल उठा रहा था उसका काम पूरा हो चला था। वहाँ गर्मियों तक हमें एक कमरा मिल रहा था।

सर्जी ने प्राथमिक हवाईस्कूल की परीक्षा पास करली थी और कोलोम्ना में हवाईइन्स्ट्रक्टर भी नियुक्त होगया था। अब पहलीबार हमारे लिए अपने बेटे से अलग होने का वक्त आया। जाने से पहले दोनो बाप-बेटों में बड़ी ही गम्भीर चर्चा हुई।

उसके पिताजी ने पूछा: अच्छाजी, अब तो तुम आदमी हुए। नौकरी भी मिल गई। आगे क्या करने का विचार है?

सर्जी विचार-मग्न होगया। वास्तव में उसकी भावी योजनाएँ क्या थीं? क्या वह जनमभर औजार बनानेवाला कारीगर बना रहना चाहता था? नहीं तो क्या प्राथमिक हवाईशिक्षक की जिन्दगी बिताना चाहता था? लेकिन वह तो विमान-चालक बनना चाहता था। उसकी एकान्त कामना यह थी कि वह पेचीदा मशीनोंवाला हवाई जहाज़ उड़ा सके।

मेरे पति ने कहा: धन्धा कोई बुरा नहीं है। औज़ार बनाने का काम करो, प्राथमिक हवाई-शिक्षक बनो या सड़कें साफ करो, सभी काम इज्जत के हैं। लेकिन देखना यह है कि कौनसा काम तुम्हारी प्रतिभा के अनुकूल है? तुम्हें कौनसा धन्धा अच्छा लगता है?'

'मैं तो विमान-चालक बनना चाहता हूँ।' सर्जी ने दृढ़तापूर्वक उत्तर दिया।

'बहुत बढ़िया।' मेरे पति ने तत्काल सम्मति दी। 'लेकिन इसके लिए तुम्हें करना क्या चाहिये?'

'अध्ययन।' सर्जी को अनिच्छापूर्वक स्वीकार करना पड़ा।

उसदिन मेरे पति की छुट्टी थी। बातें खाना खाने के बाद होरही थीं। सारा परिवार एक ही स्थान पर जमा था।

मेरे पति ने बड़े ही स्नेह से कहा: 'मुझे खुशी है कि अन्त में तुम भी उसी निर्णय पर पहुँचे। बिना ज्ञान के, बिना अध्ययन के कुछ भी हासिल नहीं होता। सालभर पहले मैंने तुम्हें यही बात कही थी, परन्तु उस-समय तुम्हें मेरी बात का विश्वास नहीं हुआ। चलो, सालभर बाद तुम स्वयं भी इसी निर्णय पर पहुँचे।'

लेकिन सर्जी का मन कहीं और था। वह बोला:

'मैं विमान-चालक बनना चाहता हूँ और शरद्ऋतु में किसी विमान-विद्या के स्कूल में भर्ती होजाऊँगा।'

लेना ने उसे छेड़ते हुए कहा: लेकिन वे तुम्हें भर्ती भी करेंगे?'

'करेंगे क्यों नहीं?' सर्जी ने उससे उलझना ठीक न समझा। 'मैंने परिश्रम में कोई कसर नहीं छोड़ी, कभी गैरहाज़िर भी नहीं हुआ। पिताजी, आपका क्या खयाल है, वे मुझे भर्ती तो कर लेंगे न?' और हमने पाया कि वह स्वयं कुछ आशङ्कित हो उठा था।

सेरेज़ा की विमान-चालक बनने की आकांक्षा को स्वीकार कर, हम उस दिन पहलीबार, सारे परिवार के साथ बैठकर उसके भविष्य के सम्बन्ध में चर्चा कर रहे थे।

डेविड इवानोविच ध्यानपूर्वक अपने बेटे की ओर देखते रहे फिर धीरे से बोले: 'दूसरों में और तुममें कोई खास फर्क़ तो है नहीं। तुम उतने ही अच्छे या बुरे हो जितने कि दूसरे। इसलिए मेरा खयाल है कि शायद तुम भर्ती कर लिये जाओगे।'

× × ×

हमारे परिवार की अपनी कुछ 'मर्यादाएँ' थीं। हम न तो किसीको व्यर्थ बढ़ावा देते या चापलूसी करते थे और न हम अपनी सफलताओं के बारे में डींग ही हाँकते थे। प्रत्येक सफलता और योग्यता-प्रदर्शन का उचित सम्मान किया जाता था, परन्तु तारीफ के पुल कभी भी नहीं बाँधे जाते थे।

पारिवारिक मर्यादा में कई बातों का समावेश होता था। उदाहरण के लिए, यदि मेरे पति घर लौटकर विश्राम करते होते तो कमरे में कोई शोर या हो-हल्ला नहीं करता था। इसके लिए किसी को कुछ कहने या हिदायत देने की आवश्यकता नहीं होती थी। सभी मन ही मन इस बात को समझते थे। छोटे बच्चे बड़ों को देखकर अपना कर्त्तव्य निर्धारित करते

थे और बड़े कहने की अपेक्षा करके इस मर्यादा के प्रति अपनी मूक-सम्मति प्रगट करते थे। ऐसे समय हम वयस्क या तो किताब लेकर बैठ जाते या सीने-पिरोने का काम लेकर बाहर बगीचे में निकल जाते थे।

जिसतरह छोटे बड़ों का खयाल रखते थे ठीक उसीतरह बड़े भी छोटों के काम के प्रति पूरा सम्मान प्रदर्शित करते थे।

यद्यपि घर में जगह कम पड़ती थी, फिर भी सबके स्थान निश्चित थे और कोई किसीके स्थान में अनुचित हस्तक्षेप नहीं करता था। ज़ेनिया एक 'पायोनियर' (बालचर) दल की सलाहकार का काम करती थी। वह दिनभर बच्चों के लिए कागज़ के खिलौने, गुब्बारे, टोकरियाँ, सितारे आदि बनाने में लगी रहती थी। उसकी टेबल पर रँगीन कागज़ और कपड़े, गोंद और कैंची आदि चीज़ें फैली पड़ी रहती थीं। घर के छोटे बच्चे बड़ी ही लुब्धदृष्टि से इन 'न्यामतों' को देखते, परन्तु ज़ेनिया की अनुमति के बिना किसी भी चीज़ को हाथ लगाने का उनका साहस नहीं होता था। लेना घर में सबसे ज्यादा अनुशासन-हीन थी। परन्तु ज़ेनिया की कैंची माँगकर ठीक-ठिकाने से लौटाना वह भी कभी नहीं भूलती थी।

यह तो मैं बतला ही चुकी हूँ कि सर्गी चीज़ों की मरम्मत करने, नयी चीज़ें बनाने और विमान उड़ाने का शौकीन था। घर में अकसर उसके औज़ार और उसकी बनाई चीज़ें बिखरी पड़ी रहती थीं, परन्तु हम बड़े न तो कभी उन्हें छूते थे और न कभी उन्हें कोई हानि ही पहुँचाते थे।

लेना की सिलाई का सामान और कतरनें सारे घर में फैली पड़ी रहना आम बात थी। उसके इस बेसलीकेपन से मुझे बड़ी तकलीफ होती थी। परन्तु मैंने इसके लिए उसे न तो कभी सजा दी और न कभी डाँट-फट-कार ही सुनाई। ऐसे अवसर पर मैं बड़ी ही शान्ति से उसे अपने पास बुलाकर धीरे से कह देती थी:

'देखो, तुमने अपना सामान वहाँ फैला रखा है। फिर ज़रूरत पड़ेगी तो सारा घर सिरपर उठा लोगी। जाओ, सँभालकर ठिकाने से रखदो।'

मेरा यह तरीका काफी सफल साबित होरहा था। लेना धीरे-धीरे व्यवस्थित होती जारही थी।

मैंने कई माताओं को अपने बच्चों के सम्बन्ध में शिकायतें करते सुना था। 'हमारी मुन्नी बड़ी कामचोर है।' 'बाबू बड़ा ही ढिलङ्गा है।' 'लल्ली तो घर में तिनका भी उठाकर इधर से उधर नहीं रखती।' 'मुन्ना इतना बड़ा होगया पर खुद अपना काम भी अपने हाथों नहीं करता।' आदि-आदि। हमारे परिवार में इसतरह की शिकायतों की कोई गुञ्जाइश ही नहीं थी। परिवार के हर सदस्य के कर्त्तव्य निश्चित थे। इसलिए इसतरह की कोई बात हो ही नहीं सकती थी।

बचपन से ही बालकों को काम सौंप दिये जाते थे। वे अपने काम से परिचित रहते और उसका सम्मान भी करने लगते थे। सच तो यह है कि अपने काम में दक्ष होना और उसे सुचारुरूप से पूरा करना हमारे परिवार में एक आवश्यक और महत्त्वपूर्ण गुण समझा जाता था। परिवार के हर सदस्य में यह गुण होना आवश्यक था। सभी बच्चे जानते थे कि घर के काम में अम्माँ की मदद करना परिवार का अनुलंघनीय नियम है। मैं पहले लिख ही आई हूँ कि लकड़ी काटने और चीरने में बच्चे मेरी सहायता करते थे। सर्जी, लेना और ज़ेनिया गाय का दूध दुहते थे। छोटे बच्चों के कर्त्तव्य भी निश्चित थे। जब पिताजी घर लौटकर आते तो पलङ्ग के नीचे से उनके 'स्लीपर' निकालकर लाने का काम वास्या का था और जब मैं बाज़ार जाती तो झोला लाकर देने का काम भी उसीका था।

ज़ेनिया के बाद, खाने की मेज़ लगाने का काम वाल्या करने लगी थी। पहले तो वह भी ज़ेनिया की तरह उन्हीं चीज़ों को लाती—लेजाती थी जो टूटने जैसी न होतीं। थोड़े दिनों बाद उसके काम में और भी वृद्धि

करदी गई थी। दोनो बड़ी लड़कियां कपड़ा धोने, खाना पकाने और घर की सफ़ाई करने के काम में मेरी सहायता करती थीं। और नये कपड़े सीने तथा फटे-पुरानों की मरम्मत करने का सारा काम तो लेना ने अपने ऊपर ले ही लिया था।

× × ×

बसन्त लगते ही हमने भूरी को बेच दिया। वह बूढ़ी और कमज़ोर होगई थी और दूध भी नहीं देती थी। उसे बेचने से जो पैसा मिला वह इतना नहीं था कि हम नयी गाय खरीदते। इसलिए सर्जी ने, जो उनदिनों कोलोम्ना चला गया था, 'गाय की मद' में अपना पूरा वेतन देने का वादा किया। और जब वह कोलोम्ना से लौटा तो वादे के अनुसार रुपए ले भी आया। हम दोनो माँ-बेटे मोज़ाइस्क के हाट में नयी गाय खरीदने गये।

गायें तो कई थीं। कई अच्छी नस्ल की भी थीं—लाल, काली और कपिला। परन्तु बाज़ार काफी तेज़ था। हमारे पास रुपए कम पड़ गये।

सर्जी और मैं निराश, घर की ओर लौट रहे थे। तभी हमें एक परि-चित सिपाही मिल गया। हमारी बातें सुनकर उसने काफी सहानुभूति प्रदर्शित की और बोला:

'हाँ जी, इन दिनों गायों का बाजार काफ़ी तेज़ है। थैली भरकर रुपया हो तब कहीं गाय मिलती है। पर देखो, जो तुम्हें जँच जाय तो हमारा महकमा एक घोड़ी बेच रहा है। वह हमारे हिसाब से तो 'रिजगल' होगई है। परन्तु यों जानवर अच्छा है। काफी होशियार और सधा हुआ। सुन्दर उसका नाम है और सच में, यथा नामा तथा गुणा।'

सेरेज़ा और मैं आपस में एक दूसरे को अर्थपूर्ण दृष्टि से देखने लगे।

'क्यों न खरीद लें?' उसने गम्भीरता से कहा। 'पैसा तो कहीं खर्च होजायगा। हाथ में टिकता ही कब है? घोड़ी कभी काम ही आयेगी। पैसों की चीज़ तो होजायेगी।'

हाट से खाली हाथ लौटना और रुपए को झुलाते हुए लेजाना मुझे भी अच्छा नहीं लग रहा था। सोचा, चलो, घोड़ी भी काम ही आयेगी।

'चलो, देखें तो सही?' मैंने कुछ अनिश्चय के-से भाव से कहा।

घोड़ी फ़ायदे का ही सौदा रहा। और सौदा पटते देर भी न लगी। घोड़ी खरीदने के बाद भी हमारे हाथ में दोसौ रूबल बचे थे। हमने वहीं एक गाड़ी भी खरीद ली और सुन्दर को उसमें जोतकर शाही शान-बान के साथ कतुआर लौट आये।

बच्चों ने जब सुन्दर को देखा तो वह कहकहे लगाये कि आसमान ही गूँज गया।

मेरे पति बोले: 'इससे बगीचे में हल चलाएँगे।'

ज़ेनिया ने कहा: 'मैं इसपर सवारी कर हवा खाने जाऊँगी।'

सबने घोड़ी का उपयोग अपने-अपने दृष्टिकोण से आँका।

परन्तु गाय का अभाव हम सबको शीघ्र ही अखरने लगा। हमें दूध खरीदना पड़ता था और बच्चे अकसर उदास होकर कहने लगते थे:

'क़ाश, हमारी अपनी गाय होती!'

× × ×

एकबार, ज़ेनिया की छुट्टी के दिन, हम दोनों माँ-बेटी मास्को रोटी खरीदने के लिए गईं। जब हम स्टेशन पर उतरीं तो गर्मी काफी तेज़ होगई थी। ज़ेनिया के पाँवों में भारी भरकम बूट जूते थे। ये जूते ठीक वैसे ही थे जैसे सर्जी अपनी पहली तनखा के दिन मेरे लिए खरीदकर लाया था।

ज़ेनिया अपने चारों ओर बड़ी ही लालसापूर्ण दृष्टि से देखने लगी। सड़कपर जितनी भी लड़कियाँ थीं सब की सब गर्मी की भड़कीली पोशाक

और पांवों में नीले बन्दवाले कपड़े के जूते पहिने हुए थीं। उस साल मास्को की महिलाओं में नीले बन्दवाले कपड़े के जूते पहिनने की बीमारी ही फैल गई थी।

ज़ेनिया भी वैसा ही एक जोड़ा जूता खरीदना चाहती थी। जब वह अपने आप को रोक न सकी तो आखिर मुझसे बोली:

'अम्मां, मुझे भी एक जोड़ा कपड़े का जूता खरीद दो।'

अभी तो पैसे हाथ में नहीं हैं, बेटी। थोड़ा ठहर जाओ। पिताजी की तनखा आजाने दो।'

ज़ेनिया थोड़ी देर चुप रही, फिर धीरे से बोली:

'आलेवाली हरी डिबिया में कुछ रुपए धरे तो हैं। कहीं तुम भूल तो नहीं गई हो?'

'सो तो वास्या और वाल्या की चप्पलों के लिए हैं। बेर और कुकुर-मुत्तों के दिन आ लगे हैं। वे जङ्गल में नंगे पांव कैसे जाएँगे?'

बस, ज़ेनिया तुनककर बोली: 'वही तो! उनका तुम्हें कितना अधिक खयाल है! सबकुछ उनके गड़हे में भरती जाओ। ऐसा ही है तो दो-चार को और गोद लेलो। फिर हम सभी नंगे पांव घूमा करेंगे।'

उसकी यह कड़ी बात सुनकर मेरे तन-बदन में आग लग गई। सबकुछ जानते-बूझते भी वह अनजान बन रही थी!

'तो बताओ, क्या करें? तुम्हारे फैन्सी जूतों के लिए उन अनाथ और परित्यक्त बच्चों को घर से निकालदें?'

वह पहला ही अवसर था जब मैंने ज़ेनिया को इसतरह झिड़का था। वह सिटपिटाकर चुप होगई। हम दोनों अपने-अपने विचारों में डूबीं वहाँ

से आगे बढ़ीं। तभी किसीके खांसने की आवाज़ ने मेरा ध्यान भङ्ग किया। मैंने मुड़कर देखा तो लाल बालोंवाली एक महिला हमारे साथ लगी चली आरही थी।

'कृपया, क्षमा कीजियेगा। मैंने आप लोगों की बातें सुनली हैं। क्या मैं जान सकती हूँ कि यह बच्चों को गोद लेनेवाली बात क्या थी?'

'बात तो सही है।' मैंने जवाब दिया: 'सवाल गोद लेने का नहीं है, मैं पहले ही गोद ले चुकी हूँ।'

'क्यों?'

वह अपरिचित औरत इस कदर पीछे पड़ी कि मैं एक-एक कर उसे सब बतला गई—कैसे वास्या और वाल्या को गोद लिया और कैसे एक-एक कर बड़े बच्चों को अपनाया आदि सबकुछ बतला दिया और अपना पता भी देदिया।

यह सच है कि उसने मास्को सोवियत के डेपुटी (सदस्य) के रूप में अपना परिचय दिया था और अपने आप को एक प्रमुख दैनिक के संवाददाता के साथ-साथ मास्को शिक्षासमिति का प्रतिनिधि भी बतलाया था। लेकिन जब उसने बार-बार ज़ोर देकर यह पूछा कि क्या तुम्हें अपने बच्चों के लिए सरकारी सहायता मिल रही है तो मैं बड़ी ही पशोपेश में पड़ गई।

'सरकारी सहायता क्यों मिलनी चाहये? बच्चे तो मैंने अपनी स्वेच्छा से गोद लिये हैं।' मैंने अपना तर्क कह सुनाया।

वह मेरी बात काटते हुए बोली: 'अच्छी बात है। आज शाम को छह-बजे शिक्षासमिति के दफ्तर में आकर मुझसे मिलना। मैं जिस मामले की तहकीकात कर रही हूँ आज वहां उसकी रिपोर्ट करनेवाली हूँ। उस रिपोर्ट में तुम्हारा हवाला भी दे दूँगी।'

ज़ेनिया ने बीच में ही कहा: 'लेकिन तुम हमें जानती तो हो नहीं, फिर हमारे सम्बन्ध में रिपोर्ट कैसे करोगी? मेरा पायोनियर दल का कप्तान

हमेशा कहता रहता है कि मीटिङ्ग में अपने पायोनियरों के सम्बन्ध में रिपोर्ट करने से पहले उनके घरों पर जाकर अच्छीतरह तहक़ीकात करना होती है।'

ज़ेनिया की ओर एक उड़ती निगाह डालकर उस औरत ने गर्वपूर्वक कहा: 'मैं तो लोगों की शकल देखते ही उनकी असलियत भाँप जाती हूँ। तुम आना तो सही। आरम्भ में तुम्हें अस्थायी मदद मिलेगी, जो आगे चलकर स्थायी करदी जायेगी।'

वह इसीतरह बक-झक करती रही। ज़ेनिया ने एक क्षण के लिए भी उसकी ओर से दृष्टि नहीं हटाई थी; पर मैं, न जाने क्यों, उसकी उपस्थिति में असुविधा-सी महसूस करने लगी थी।

इसीतरह बातें करते-कराते हम रोटीवाले की दूकान तक जापहुँचे।

'अच्छा जी, नमस्ते! हमें यहींतक जाना है।' मैंने ज़रा रुखाई से कहा।

'मैं कभी कतुआर आऊँगी। मेरी प्रतीक्षा करना।' उसने जाते-जाते चिल्लाकर कहा।

'मैंने ज़ेनिया से कहा:' औरत कुछ अजीब मालूम पड़ती है। क्यों है न?'

'होगी! हमें तो मतलब आर्थिक मदद से है। यदि मदद मिल गई तो हम कपड़े के जूते खरीद सकते हैं।' ज़ेनिया तो हवाई क़िले भी बनाने लगी थी।

कोई तीन दिन बाद, जेरी का भौंकना सुनकर मैं दरवाज़े पर आई। यह दब्बू के मरने के बाद हमारा दूसरा कुत्ता था। फाटक पर हमारी वही मास्कोवाली मित्र खड़ी थी। कुत्ते के डर के मारे अन्दर आने का उसका साहस नहीं होरहा था।

मास्को की तरह यहाँ भी वह बड़े फर्राटे से जबान चला रही थी। कभी एक बात करती, कभी दूसरी। उसने बतलाया कि वह पेरेदेल्किनो में किंडरगार्टन संस्थाओं का निरीक्षण करने गई हुई थी। दुर्भाग्य से अपना बस्ता वहीं भूल आई, इसलिए अपने प्रमाण-पत्र बतलाने में असमर्थ थी। उसे शिक्षा-समिति ने मेरे बच्चों के सम्बन्ध में जाँच-पड़ताल करने भेजा था।

'आपको कल मास्को शिक्षा-समिति के दफ्तर में कामरेड दरज़ाविन से मिलने जाना है। वहाँ आपको तीनसौ रूबल मिलेंगे। उनसे कहियेगा कि खुद सेमोवा ने आपको भेजा है। आपके नाम के रुपए तैयार रखे हैं।' उसने बड़े ही रौब से कहा।

हम बरामदे में बैठे बातें कर रहे थे। सेरेज़ा, लेना और ज़ेनिया सभी आगन्तुक महिला की बातें सुनने आ जमा हुए थे।

सेरेज़ा ने धीरे से दुहराया: 'सेमोवा।'

उसकी ओर एक निगाह डाल उस आगन्तुक महिला ने कहा: 'यदि याद न रह सके तो नाम लिख लो।' फिर मुझसे पूछा: 'बतलाइये, आपको सबसे अधिक किसी चीज़ की ज़रूरत है?'

मैं सोचने लगी। वह कुछ ऐसे अधिकार के भाव से पूछ रही थी कि मेरा सारा अविश्वास दूर होगया था। हमें सबसे अधिक काहे की आवश्यकता थी? बच्चों के लिए जूतों की ज़रूरत थी, बिछौने के लिए चादरें कम पड़ती थीं और हमारा राशन भी ठीक-ठिकाने का न था।

परन्तु मुँह खोलकर कुछ कहने की मेरी हिम्मत न हुई। मैंने सकुचाते हुए कहा: 'अब क्या बतलाऊँ?' लेकिन ज़ेनिया ने, जो चुपचाप हमारी बातें सुन रही थी, झट से कहा:

'कैनवास के जूते।'

आगन्तुक महिला ने दोनों लड़कियों की ओर ध्यानपूर्वक देखा, फिर बोली:

'कैनवास के जूते ? हाँ, प्रबन्ध होसकता है । नाप बतलादो ।'

अबकीबार लेना ने तपाक से कहा: 'पांच और छह नम्बर ।'

'और नौ नम्बर भी लिख लीजिये ।' सर्जी ने बड़ी ही धीमी आवाज़ में कहा ।

'अच्छा, मैं लिख लेती हूँ । और कुछ ?'

मुझे लगा कि कहीं मैं सपना तो नहीं देख रही हूँ । रूस के महान कवि पुश्किन की लिखी 'सुनहरी मछली की कहानी' हूबहू घटित होरही थी । सिर्फ कठौती का टूटना और सपने का भङ्ग होना शेष रह गया था ।

मैंने कुछ हिचकिचाहट के साथ कहा: 'हमारी सबसे बड़ी समस्या अन्न की है । मेरे बच्चे अपना सारा समय खुली हवा में बिताते हैं और इसलिए इनकी खूराक भी ज्यादा है । लेकिन बाजार में अन्न के दाम तेज़ हैं और हम आवश्यक मात्रा में अन्न खरीदने में असमर्थ हैं । इसलिए सबसे अधिक ज़रूरत हमें अन्न की ही है ।'

'हुँह, यह तो बिलकुल आसान है । मुझे काफी राशन मिलता है, पर मैं उस सबका उपयोग नहीं कर पाती । मुझे कुछ रुपये और एक बोरा दे दीजिये । कल आपके यहाँ सामान पहुँच जायेगा ।'

उसने हमें अपना पता लिखाया और दूसरे दिन ठीक ग्यारह बजे रुपए लेने के लिए शिक्षासमिति के दफ्तर में पहुँच जाने की बात याद दिलाई । ज़रा-सी देर में हिसाब लगाकर उसने यह भी बतला दिया आटे और कैनवास के जूतों के लिए हमें उसको अभी कितना रुपया देना पड़ेगा । उसके हिसाब से अस्सी रूबल होते थे ।

ज़ेनिया ने उदास होकर कहा: 'इतना रुपया तो बहुत होता है ।'

सेमोवा ने ज़रा नाराज़ी से हमारी ओर देखा और बोली:

'अच्छी बात है, जूतों के लिए रुपए दे दीजियेगा ।'

उधर मैंने देखा कि आगन्तुक महिला के पीछे खड़ा सेरेज़ा ज़ोर-ज़ोर से हाथ हिलाकर मुझे अन्दर बुला रहा था ।

लेना ने उसे देख लिया और यह कहती हुई अन्दर चली गई: 'शायद बच्चे रो रहे हैं ।

'क्षमा कीजियेगा, मैं अभी दो मिनट में आई ।' आगन्तुक से क्षमा माँग, मैं भी सर्जी के पीछे घर में चली आई ।

सोने के कमरे में हम तीनों की बैठक जमी ।

कोलोम्ना जाने के बाद से सेरेज़ा की आवाज़ बदल गई थी । उसने अपने पुरुषोचित स्वर में चेतावनी देते हुए कहा: 'अम्माँ, ज़रा अच्छी तरह सोचलो । मुझे कुछ धोखाधड़ी मालूम पड़ती है ! कोम्सोमोल (रूस की युवक कम्युनिस्ट लीग) के सदस्य की हैसियत से इतना तो मैं जानता ही हूँ कि मास्कोसोवियत का कोई भी डेपुटी इस तरह अपना राशन नहीं बेचता फिरेगा ।'

लेना ने तुनककर कहा: 'सर्जी, तुम्हारी आशङ्का ठीक नहीं है । वह बेचारी कुछ बेचा-बाची नहीं कर रही है । हमारी मदद करना चाहती है और अपने राशन का बँटवारा कर रही है । लेकिन सोचो तो भला, मुफ्त कैसे देगी ? फिर उसने हमें कैनवास के जूते भी तो ला देने का वादा किया है ।'

'कैनवास के जूते ? हाँ, सो तो है ही !' सेरेज़ा ने लम्बी साँस भरी और उसका सन्देह काफ़ूर की तरह उड़ गया ।

'यह सब तो ठीक है, लेकिन यहाँ तो पास में कानीकौड़ी भी नहीं है ।' मैंने अपनी बात कही ।

'हम उधार लेसकते हैं।' लेना ने अपनी राय दी।

निस्सन्देह उसका कहना सच था। मैंने दोनों को बाहर भेजा और आप पिछवाड़े के रास्ते से पड़ोसी के यहाँ जाकर रुपए उधार मांग लाई। लौट आकर मैंने आगन्तुक महिला से जरा झेंपते हुए कहा:

'लीजिये। अभी सिर्फ़ बाईस रूबल ही घर में निकले। महीना ख़तम होरहा है और तनखा मिलने में देर है। हालत कुछ आपसे छिपी नहीं है।'

उसने बड़ी उदारतापूर्वक मेरी क्षमायाचना को रोक दिया और बोली:

'सो कोई बात नहीं है। आटे के लिए इतना बहुत है।'

वह झट-झट जाने की तैयारी करने लगी लेकिन कैसे हठात् उसे याद आया:

'अरे, मैं तुम्हारे बच्चों को देखना तो भूल ही गई!'

सच, वाल्या और वास्या तो सो रहे थे!

मैं उसे, जहाँ बच्चे सो रहे थे वहाँ लेगई। वह जिस बारीकी से हमारी सब चीजों को घूर-घूर कर देखती जाती थी वह मुझे कुछ अच्छा न लगा। लेकिन मैंने मन ही मन सोचा कि शायद वह बच्चों के रहन-सहन का मुआयना करना चाहती है। जो हो; उसने बिस्तरे में बांके-तिरछे पड़े बच्चों को बड़ी देरतक देखा। फिर उनके बिस्तरों पर झुकती हुई बोली:

'कितने प्यारे बच्चे हैं!'

जाते-जाते एक तेज़ निगाह हमारे कमरे के अन्दर भी डालती गई उसकी वह गीधदृष्टि मुझसे छिपी न रही। बरामदे में आकर उसने हमसे विदा ली। लेना उसे स्टेशन तक छोड़ने साथ गई।

मैं विचारों में डूबी कबतक फाटक पर खड़ी रही, कह नहीं सकती। लेकिन जब ज़ेनिया को ज़ोर से चिल्लाकर पुकारते सुना तो मेरा ध्यान भङ्ग हुआ।

'अम्माँ, अम्माँ! अरे, रुपए लेना तो वह भूल ही गई। मैं दौड़ी जाकर दे आती हूँ।'

ज़ेनिया घघरी उठाये स्टेशन की ओर लपकी; और, लेना और वह, दोनों साथ-साथ लौटीं।

ज़ेनिया का दम भर आया था और वह हाँफती हुई कहने लगी—

'मैंने उसे ठीक स्टेशन के फाटक पर पकड़ा। मैंने कहा,—आप रुपए भूल आई हैं। वह विचारों में खोई हुई-सी मालूम पड़ी और जब बोली तो उसकी आवाज़ बड़ी ही मज़ेदार मालूम पड़ रही थी। जानते हो, उसने क्या कहा? वह बोली—तुम लोगों को देखकर मैं इतनी विह्वल होगई कि रुपए की याद ही न रही। फिर गाड़ी आगई और लेना तथा मैंने उसे गाड़ी में बैठा दिया।'

सुबह होते ही मैं और लेना मास्को के लिए रवाना हुई। शिक्षा-समिति के दफ्तर में किसीने हमारी बात भी न पूछी। और तो और वहाँ कामरेड दरज़ाविन नाम का कोई आदमी भी नहीं था।

हम बुरीतरह झेंपकर वहाँ से बाहर निकलीं।

सड़कपर आकर मैंने कहा: 'बड़े ही अचरज की बात है! अचरज की और शर्म की भी! भला, उन लोगों ने हमारे बारे में क्या सोचा होगा?'

लेकिन लेना अभी भी अपने हवाई महल में मस्त थी। बोली: 'कुछ ग़लतफहमी होगई मालूम पड़ती है। चलो, उसके घर चलकर पता लगाएँ।'

न वह उस पते पर ही मिली।

उदास और निराश, दो पिटे हुए बच्चों की तरह, हम दोनों माँ-बेटी कतुआर लौट आई।

सर्जी ने लेना की खूब मज़ाक उड़ाई।

'क्या कहने हैं आपकी अक़्ल के? दो-दो ठिकाने होते हुए भी आप एक औरत को ढूँढ़ न सकीं। भई वाह! अब देखना, कल जाता है बन्दा अम्माँ के साथ!'

लेना बेचारी के तो आंसू रुकना मुश्किल होगये।

मैं चुप। सेमोवा और उसके वादों पर से मेरा विश्वास प्रतिक्षण उड़ता जारहा था। परन्तु बच्चे अब भी अपने हठपर अड़े हुए थे।

सर्जी ने ज़ोर देकर कहा: 'ठीक है अम्माँ! कल हम मास्कोसोवियत जाकर सारी बात का पता लगाएँगे।'

दूसरे दिन सवेरे मैं फिर मास्को चली। इसबार सर्जी मेरे साथ था। हम वहाँ बहुत जल्दी पहुँच गये थे।

एक बहुत ही भली-सी क्लर्क को देखकर मैंने कहा: 'भई, हम यहाँ स्थानीय सोवियत के एक सदस्य, कामरेड सेमोवा, का पता लगाने आये हैं।'

'वह किसकी प्रतिनिधि हैं? कौनसे विभाग में काम करती हैं?'

हमें कुछ भी मालूम नहीं था।

'यह तो बड़ी झमेले की बात है।' उस महिला ने कुछ सोचते हुए कहा: 'परन्तु कोई चिन्ता की बात नहीं, हम फाइलों से पता लगा लेंगे...

उसने कई बड़े-बड़े पोथे निकाले और उनके पन्ने उलटने लगी। बड़ी देरतक ढूँढ़ने के बाद वह परेशान होउठी।

'भई, इस नाम का तो कोई डेपुटी यहाँ है नहीं। हमारे रजिस्टर में नाम छूट जाय यह भी कम ही संभव है। फिर भी देखना चाहिये... अच्छा, यह तो बतलाइये कि आप उन्हें पहिचानती हैं या नहीं?'

'वाह, पहिचानते क्यों नहीं हैं? देखते ही पहिचान लेंगे।' सर्जी ने जवाब दिया।

'अच्छी बात है तो ये लीजिये अलबम। इनमें सभी सदस्यों के फोटू लगे हैं। देख डालिये। संभव है नाम गलत लिख गया हो।'

और उसने बड़े-बड़े चार अलबम हमारे सामने रख दिये। हम आराम से बैठकर फोटू देखने लगे। लेकिन देखते-देखते मेरी आँखें दुखने लगीं और उसका फोटू न निकला।

मैंने थककर सर्जी से कहा: 'देखने से कोई फायदा नहीं। मैं तो उसकी शकल ही भूल गई हूँ।'

'लेकिन मैं तो नहीं भूला हूँ।' लाओ मुझे दो। मैं देखता हूँ। तबतक तुम आराम करो।

उसने बाक़ायदा एक-एक फोटू देखा। आखिर वह भी थककर बैठ गया।

'ऊँहूँ वह तो इनमें नहीं है।'

'क्यों, नहीं पता चला?' क्लर्क ने बड़ी ही सहानुभूति से पूछा: 'अच्छा, यह तो 'बतलाइये कि उससे काम क्या था?'

मैंने अपने आने का कारण बतलाना शुरू किया ही था कि वहाँ एक दूसरी महिला आई। सुनते ही वह पूरी बात जानने के लिये उत्सुक होउठी।

'यह सेमोवा तुम्हारे यहाँ आई क्यों थी?'

मैंने संक्षेप में कारण बतला दिया।

'तुम्हारे परिवार के सम्बन्ध में तहक़ीकात करने? परन्तु तहक़ीकात के लिए तो हम किसीको भेजते नहीं हैं। क्या कोई बात होगई थी?'

'हाँ, मेरे बच्चों को सरकार की ओर से आर्थिक सहायता मिलने की बात थी।'

'कैसी सहायता ?'

मैंने वह भी बतला दिया।

'ज़रा, एक मिनट ठहरो।' उस महिला ने बड़ी बेचैनी के साथ कहा: 'सारा क़िस्सा बड़ा ही मज़ेदार मालूम पड़ता है। जो कुछ तुम सुना रही हो यदि वह सच है तो...'

सर्जी को गुस्सा आगया, बोला: 'सच नहीं, तो क्या झूठ है ?'

उस महिला ने मुसकराते हुए कहा: 'भई, नाराज़ मत हो। सबकुछ होसकता है। चलो, मेरे आफ़िस में चलो।'

उस महिला ने अपने दफ्तर में एक दूसरे साथी को बुलाया और हमें सारा क़िस्सा फिर दुबारा विस्तारपूर्वक सुनाना पड़ा। उन्होंने हमसे हमारे परिवार के सम्बन्ध में, हर बच्चे के सम्बन्ध में अलग-अलग, हमारे आमदनी के ज़रिये के सम्बन्ध में, मेरे पति के सम्बन्ध में बल्कि यों कहना चाहिये कि हमारे सारे जीवन के सम्बन्ध में खोद-खोदकर कई प्रश्न पूछे।

'बड़े ही अचरज की बात है! पर तुम इससे पहले हमारे पास क्यों नहीं आईं ?' उस महिला ने अन्त में कहा।

'अगर वह सेमोवा दाल-भात में मूसरचन्द की तरह न कूदी होती तो मैं अभी भी न आती।'

'उसे भूल जाओ। हम शीघ्र ही किसी को तुम्हारे यहां भेजेंगे। इसबार तुम हमारी सहायता पर निर्भर कर सकती हो।'

'लेकिन मैं तो तबतक नहीं कर सकती...'

उसने हँसते हुए कहा: 'सो मैं जानती हूँ कि दूध का जला छाछ भी फूँककर पीता है। पर चिन्ता मत करो, सबकुछ ठीक ही होगा।'

हमने बड़े प्रेम से हाथ मिलाये। लेकिन जब दफ्तर से बाहर निकली तो मन आशा और निराशा के झूले झूल रहा था।

'सेमोवा ठग भी तो होसकती है ?' सड़कपर आते ही सर्जी बोल उठा । मेरे मन में भी ठीक यही बात घुमड़ रही थी ।

'लगता तो ऐसा ही ।' मैंने उसकी बात का समर्थन किया ।

'परन्तु हमें ठगकर वह पाती भी क्या ?' यह पहेली सर्जी की समझ में नहीं आरही थी ।

चूँकि हमने सरकार से आर्थिक सहायता नहीं माँगी थी इसलिए उसने हमें खाते-पीते सुखी समझ लिया होगा ।'

'बेवकूफ कहीं की !' सर्जी ने आग-बबूला होकर कहा ।

मैंने उसे तो झिड़क दिया; परन्तु मेरे मन में भी ठीक यही गाली थी।

× × ×

उक्त घटना के बाद, कतुआर में, हमारे दिन एक ढर्रेपर बीतने लगे। कुछ दिनों तक, कोई विशेष उल्लेखनीय बात नहीं हुई । मेरे पति रोज रात में, घर लौटकर, विनोदपूर्वक कहते थे: 'क्यों भई, सेमोवा तो फिर मिलने नहीं न आई थी ?' हम उनके विनोद का कोई उत्तर नहीं देते थे।

एक दिन सवेरे मैंने बटुए में हाथ डाला तो पास कानीकौड़ी भी न थी । मैं खर्चे का हिसाब लगाने लगी और सर्जी मेरी ओर ध्यानपूर्वक देखने लगा । थोड़ी देर बाद उसने पूछा:

'अम्माँ, तुमने पड़ौसी से जो बाईस रूबल उधार लिये थे वे लौटा दिये ।'

'हाँ भई !' और मैंने एक लम्बी सांस ली ।

'तब तो पास एक पैसा भी न होगा ।'

'ऊँहूँ ।'

'हूँ !' वह थोड़ी देर कुछ सोचता रहा फिर बड़े ही निश्चयात्मक ढँग से उठा ।

'कहाँ जारहे हो ?'

'गाँव में कोई छोटा-मोटा काम मिल जाय तो देखता हूँ ।'

किसतरह का काम ?'

'किसीको कुछ बनवाना हो, मरम्मत करवाना हो या और कोई इसीतरह का काम हो ।'

उसके जाने के मिनटभर बाद मैंने भी गांव में जाने का निश्चय किया। तदनुसार सिरपर अपनी गोल टोपी पहिनकर घर से निकली। सामने से हमारा पड़ोसी चैनोव आता दिखलाई दिया। पास आकर वह बोला:

'मैं तुमसे मिलने ही आरहा था। तुम्हारी सुन्दर के क्या हाल हैं? चलफिर तो सकती है ?'

गाय के बदले बूढ़ी घोड़ी खरीदने पर हमारे पड़ौसी अक्सर हमारी मज़ाक उड़ाया करते थे ।

'चलने की एक ही कही। अजी, इसबार हम उसे घुड़दौड़ में भेज रहे हैं! आप अपना मतलब बतलाइये।' मैंने जवाब दिया।

'अच्छा, तो यह बतलाओ की घुड़दौड़ में भेजने से पहले उससे थोड़ा काम करवाओगी? गर्मियों के लिए मैंने अपनी जगह एक किण्डरगार्टन स्कूल को किराये पर उठादी है। उन्हें कुछ बालू की ज़रूरत है। यही सात या आठ गाड़ी लगेगी। नदी किनारे से खोदकर लाना पड़ेगी। बोलो, है मंजूर? आठ गाड़ी के डेढ़सौ रूबल मिलेंगे।'

'कर तो सकती हूँ।'

मैं लौट आई और सुन्दर को खोला। लेकिन जैसे ही उसे गाड़ी में जोतने जारही थी धड़ाम से फाटक खोलकर सेरेज़ा अन्दर दौड़ा आया। मुझे सुन्दर के साथ देखकर वह जहाँ था वहीं खड़ा रह गया।

'तुम क्या कर रही हो? कहीं जारही हो क्या?'

'मुझे एक...'

मैं पशोपेश में पड़ गई कि बतलाऊ या न बतलाऊँ। डर यह लग रहा था कि सर्जी मुझे यह काम करने से मना कर देगा। वह कहेगा कि इस बुढ़ापे में इतनी मेहनत तुमसे न होगी। परन्तु वह तो अपने ही विचारों में डूबा था। मुझसे अनुनयपूर्वक बोलाः

'अम्माँ, आज दिनभर के लिये सुन्दर मुझे देदो।'

'क्या कहा? सुन्दर? आज दिनभर के लिए?'

मैं घबड़ा गई। भला, आजही के दिन उसे सुन्दर की ऐसी क्या ज़रूरत आपड़ी थी?

'सेरेज़ा, मुझे खेद है कि आज तो मैं न देसकूँगी।'

'पर अम्माँ, बड़ा ही ज़रूरी काम है। मैं वादा कर आया हूँ।'

'और मैंने भी वादा कर लिया है।'

'कर लिया होगा। पर मैं सुन्दर की मदद से डेढ़सौ रूबल कमा सकता हूँ।'

एकदम परिस्थिति मेरी समझ में आगई।

'क्या तुम चैनोव से मिले हो?'

सेरेज़ा ने विस्मित होकर कहाः 'नहीं तो। क्यों?'

तो यह सिर्फ योगायोग था।

'परन्तु आज के ही दिन मैं भी सुन्दर की मदद से रुपए कमा सकती हूँ। मुझे भी ठीक डेढ़सौ रूबल का ही काम मिला है।'

सेरेज़ा को मेरी बात का भरोसा न हुआ; उसने सन्देहपूर्वक पूछाः 'कैसा और कहाँ का काम?'

मैंने कह सुनाया।

'मगर ठहरो,' सर्जी ने विरोध प्रदर्शित करते हुए कहा, 'इस काम का हक़दार तो मैं हूँ। अभी थोड़ी देर पहले मुझे एक औरत मिली थी। उसने कहा—क्या तुम यहीं रहते हो? मैंने उत्तर दिया—जी हाँ। तो वह बोली क्या कृपया यह बतला सकते हो कि किसी के पास घोड़ा है? मैं किंडरगार्टन स्कूल की अध्यक्ष हूँ। हमें आठ गाड़ी बालू चाहिये। डेढ़सौ रूबल देने को तैयार हैं। बस, मैंने मंजूर कर लिया। और अब तुम मुझसे होड़ करने जारही हो।'

हम दोनो ही हँसने लगे।

मैंने उसे यह कहकर रोकने की कोशिश की कि वह इस कड़े काम के लिए अभी बहुत छोटा है और उसने मुझे यह कहकर कि मैं इस बूढ़ी उम्र में इतना परिश्रम सह न सकूँगी, रोकना चाहा।

अन्त में हम दोनो ने साथ मिलकर काम करना तै किया।

लेकिन बालू ढोने का काम हम दोनो की अपेक्षा से कहीं अधिक कठिन साबित हुआ। सर्जी खोदता था और मैं टोकनियां भरती थी। फिर वह टोकनियों को ढोकर गाड़ीतक ले जाता था। मैं उन्हें खाली करती और बालू नापती थी। हम बच्चों की तरह धूलि-धूसरित और धूप में काम करते-करते थककर चकनाचूर होगये थे। तिसपर भी दिनभर में कुल जमा दो गाड़ी बालू ही ढोसके!

हम थके-मांदे घर लौटे। सर्जी पैदल चल रहा था और मैं गाड़ी में बैठी सुन्दर को पुचकारती जाती थी। जब हम घर के निकट पहुँचे तो मैंने बरामदे में किसी अपरिचित को बोलते सुना। आँख उठाकर देखा तो ज़ेनिया पत्थर को मूरत बनी चुप लगाये बैठी थी, उसकी पलकें तक निस्पन्द थीं; दोनो हाथ गोद में पड़े थे—ठीक चित्रोंवाली किताब की तरह।

दूसरे छोटे बच्चे भी वहीं थे। दर्जी के यहाँ का सिला सूट और टोप पहने एक महिला कुर्सीपर बैठी बड़े मनोयोगपूर्वक बच्चों से प्रश्न पूछ रही थी। मैंने उस महिला को पहले कभी नहीं देखा था।

जब मैं उस मण्डली के पास पहुँची तो वह महिला उठकर खड़ी होगई और मेरी ओर हाथ बढ़ाते हुए बोली: 'और मेरा खयाल है कि आप ही श्रीमती नटालिया अलेक्ज़ेन्द्रोवना हैं।'

मेरे हाथ कुहनियों तक धूल में सने थे।

'कृपया, क्षमा कीजिये। इससमय तो मैं आपसे हाथ भी नहीं मिला सकती।'

उसने स्वयं ही अपना परिचय दिया: 'मैं मास्कोसोवियत से आरही हूँ। फिर मेरा सन्देह दूर करने के लिए कहा: 'सिर्फ मेरा नाम सेमोवा नहीं है। ये रहे मेरे प्रमाणपत्र।'

पांच मिनट में मैं हाथ-मुँह धोकर बरामदे में लौट आई। आगन्तुक महिला को कामरेड ए० ने भेजा था। मास्कोसोवियत के दफ्तर में हमसे सारा किस्सा उन्हींने पूछा था। आगन्तुक महिला ने बड़ा उलहना दिया कि हम इतने दिन चुप क्यों रहे। अपनी स्थिति मास्कोसोवियत से क्यों छिपाई? उसकी बात से यह भी पता लगा कि मास्कोसोवियत हमारी सहायता करने के लिए हरतरह से तैयार और उत्सुक थी। वह महिला इतनी विनयशील थी और इतने आदरपूर्वक बोल रही थी कि मुझे शरम आने लगी। अन्त में उसने पूछा:

'मास्कोसोवियत ने मुझे यह पता लगाने के लिए भेजा है कि आपको सबसे अधिक किस चीज़ की ज़रूरत है?'

प्रश्न सुनते ही मुझे सेमोवा की याद आगई। उसने भी इसीतरह पूछ-ताछ की थी, वादे किये थे और अब फिर वही प्रश्न पूछा जारहा था।

मैंने ज़ेनिया और सर्जी की ओर देखा। उनके मन में भी सन्देह चक्कर काट रहा था। कोई कुछ न बोला। सिर्फ वास्या और वालया सारी परिस्थिति से बेखबर बरामदे के दूसरे कोने में शोरगुल मचाते खेलते रहे। थोड़ी देरतक चुप्पी रही। उसके बाद आगन्तुक महिला ने ही कहना शुरू किया:

'हिचकिचाने की कोई ज़रूरत नहीं है। न शर्माने की ही कोई बात है। शायद ये बच्चे मुझे बतला सकेंगे।'

ज़ेनिया ने डरकर सिर हिला दिया, पर मुँह से कुछ न बोली। सर्जी चुपचाप छत की कड़ियाँ गिनने लगा। लेना उसदिन शहर गई हुई थी। परन्तु मैं जानती हूँ कि यदि वह वहाँ होती तो भी उसदिन, बातूनी होते हुए भी, चुप ही रहती।

उस महिला ने मुसकराते हुए कहा: 'आपके परिवार में वास्या सबसे ज्यादा बहादुर है। आपके आने से पहले वह मुझे बतला चुका है। क्योंजी . वास्या महाशय, आपने बतलाया था न ?'

'ऐं ?' अपना नाम आते ही वास्या कान लगाकर सुनने लगा था।

'मैं कह रही हूँ कि तुमने अभी थोड़ी देर पहले अपनी आवश्यकता बतलाई थी।'

'हाँ।' वास्या खुश होगया। 'मैंने गैया के बारे में कहा था। हमें सबसे ज्यादा गाय की ज़रूरत है।'

मैं तो मारे शरम के लाल पड़ गई।

आगन्तुक महिला ने बड़ी ही विनम्रता से पूछा: 'वास्या ठीक कह रहा है ?'

'हाँ, सच ही, गाय की हमें सबसे ज्यादा ज़रूरत है। आप तो जानती ही हैं कि बिना दूध के बच्चों को कितनी तकलीफ होती है!' मैं इसकदर सिटपिटा गई थी कि खयाल ही नहीं रहा कि क्या कह रही हूँ।

उसने उठते हुए कहा: 'अच्छी बात है, तो गाय का तै रहा। अब आपका अधिक समय नहीं लूँगी।'

मैंने उसे चाय पीकर जाने का बहुत-बहुत आग्रह किया, परन्तु वह न रुकी। उसके जाते ही सभी एकसाथ बोलने लगे।

सर्जी ने वास्या की ओर देखकर हँसते हुए कहा: 'क्या गजब का लड़का है! इधर-उधर करने की कोई ज़रूरत ही नहीं। बस, सीधी बात कहदी, गाय चाहिये।'

ज़ेनिया भी बड़ी प्रभावित हुई थी। बोली: 'और, अम्माँ, मैं सोच रही थी कि यह पीपरमेंट की गोली या ऐसी ही कोई चीज़ माँगेगा।'

सर्जी एकदम गम्भीर होकर बोला: 'पर देखो, पिताजी से इस सम्बन्ध में कुछ न कहना। शायद यह भी धोखाधड़ी ही निकले! और यदि कहीं सच निकल गया तो वह चकित ही रह जाएँगे!'

यही तै पाया गया। कुछ दिनों बाद, एकदिन सवेरे, डाकिये ने आकर हमारा दरवाज़ा खटखटाया।

'रजिस्ट्री है!' उसने ज़ोर से चिल्लाकर कहा। उसकी आवाज़ सुनकर जेरी भौंकने लगी थी। हाल ही में उसने बच्चे दिये थे और वह ज़रा-सा खटका सुनते ही भौंकने लगती थी।

मैंने रसीद पर दस्तखत किये। लिफाफे पर मास्कोसोवियत के दफ्तर की मुहर थी। लिफाफा फाड़ा तो अन्दर मास्कोसोवियत का छपा कागज़ निकला। लिखा था कि अमुक तारीख को, अमुक बजे कामरेड एन० ए० फ्लौमर को मास्कोसोवियत में मिलने के लिए बुलाया गया है।

मुलाक़ात के दिन मैं और ज़ेनिया ठीकसमय से उक्त दफ्तर में पहुँच गईं। दफ्तर का कमरा काफी लम्बा-चौड़ा और अच्छीतरह सजा हुआ था। हमें अन्दर घुसते देख एक भद्र और मिलनसार व्यक्ति हमारा स्वागत करने करने के लिए आगे आया।

मेरी ओर अपना हाथ बढ़ाते हुए उसने कहा: 'और यह हैं हमारी आज की सुप्रसिद्ध अतिथि!'

मुझे तो सपने में भी यह खयाल नहीं आया कि उस बन्धु का तात्पर्य मुझीसे था। इसलिए मैंने मुड़कर देखा। ठीक उसीसमय, सुप्रसिद्ध अभिनेत्री ब्लूमेन्थाल तमारिना भी (अब स्वर्गीया) कमरे में प्रवेश कर रही थीं। मैं उन्हें रास्ता देने के लिए एक ओर हट गई। लेकिन हमारे मेजबान ने उन्मुक्त हँसी हँसते हुए कहा:

'भई वाह, घर बैठे गंगा और सो भी एक छोड़ दो-दो! आइये कामरेड्स् आप लोगों का आपस में परिचय करा दूँ।'

कमरे में हमारे मेजबान, हम दोनो औरतों और ज़ेनिया के सिवा अन्य कोई नहीं था। और ज़ेनिया तो मारे लाज के धरती में ही गड़ी जारही थी। श्रीमती तमारिना से हाथ मिलाने और कुशल-क्षेम पूछने के लिए सकुचाते हुए मैं आगे बढ़ी और मन ही मन सोचती जाती थी कि कहीं कोई ग़लती तो नहीं होगई है!

परन्तु वहाँ के निःसंकोच वातावरण और हमारे मेजबान की जिन्दादिली ने तत्काल मेरी समस्त आशङ्काओं को निर्मूल कर दिया। थोड़ी देर बातचीत करने के बाद उन्होंने मेज़ की दराज़ से एक सीलबन्द लिफाफा निकाला।

'मेरा विश्वास है कि आपको एक गाय की आवश्यकता है।' मेरे मेजबान ने कहा और मेरे उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही आगे बोले: 'इस लिफाफे में सातसौ रूबल हैं। कृपया स्वीकार कीजिये और अपने बच्चों को दूध पिलाने के लिए अच्छी-सी गाय खरीद लीजिये।'

वहाँ से मैं और ज़ेनिया उड़ती हुई डेविड इवानोविच के कारखाने पहुँचीं। मारे खुशी के हमारे पांव धरती पर नहीं पड़ रहे थे।

ज़ेनिया को मास्कोसोवियत में बोलने का अवसर नहीं मिला था इसलिए सारे रास्ते बढ़-बढ़कर वह कसर निकाल लेना चाहती थी।

जैसे ही पहला हाट पड़ा, मैं और डेविड इवानोविच गाय खरीदने के लिए मोज़ाइस्क की हाट गये। बाज़ार में एक से एक बढ़िया काली, लाल और कपिला गायें बिकने आई थीं। परन्तु उसदिन भी बाज़ार तेज़ था और सातसौ रूबल की कोई गाय नहीं थी।

घर लौट आकर हमने परिवार में मन्त्रणा की। सर्वसम्मति से तै पाया गया कि सातसौ रूबल सेविङ्ग बैङ्क में जमा करवा दिए जाएँ और जब हाथ में काफी रुपए होजायें तो गाय खरीदली जाय। हम इस सहायता के लिए मास्कोसोवियत के हृदय से आभारी थे। परन्तु तभी से हमारे यहाँ मुलाक़ातियों का ताँता बँध गया, जिसका उससमय तो हमें सपने में भी खयाल नहीं आया था।

× × ×

गर्मियों की मौसम हम लोग स्वाभाविकरूप से अपनी बाड़ी के काम में बिताते थे। बाड़ी में हम सभी काम करते थे, क्योंकि उससे हमें न केवल ग्रीष्म अपितु जाड़े में भी बड़ी सहायता मिलती थी। परन्तु इस साल की गर्मियों में मैंने पाया कि वाल्या काम से जी चुराने लगी थी। यों वह बड़ी ही परिश्रमी और सुघड़ थी, परन्तु अब न जाने क्यों, जैसा कि आम-तौर पर बच्चे कभी-कभी होजाया करते हैं, उद्दण्ड और हठी होगई थी।

जब हम सब बगीचे में काम करते होते, वह अनमने भाव से इधर-उधर भटकती रहती थी। दो-एकबार मैंने उसे काम करने के लिए कहा भी, परन्तु कोई लाभ न हुआ। उलटे उसने और भी ज्यादा ओठ फुला लिये और तोबड़ा सी लिया। तभी मुझे एक तरकीब सूझ गई। मैंने उससे पूछा:

'वाल्या, क्या इस साल जाड़े की मौसम में तू नये फेल्ट जूते लेगी ?'

उसकी आँखों में आशा की ज़रा-सी चमक दिखलाई दी। जूतों की हमारी समस्या अभीतक हल नहीं हो पाई थी। बच्चों को जूते फाड़ते देर

न लगती थी और दूसरे, थोड़े ही समय में उनके जूते छोटे भी पड़ जाते थे।

'लेकिन जूते खरीदने के लिए मेरे पास पैसे नहीं हैं। हाँ, तू चाहे तो कमाकर इकट्ठा कर सकती है।'

बात उसको जँच गई थी, पूछने लगी: 'कमाकर? सो कैसे?'

मैंने बड़ी ही गम्भीरता से कहा: 'सो ऐसे, कि पुदीना तो तू पहिचानती ही है। पुदीना की पत्तियां इकट्ठा कर। दो-चार नहीं, पूरी टोकरीभर इकट्ठा करना होंगी। मैं उन्हें सुखाकर रख लूँगी और पतझड़ की मौसम में बेच दूँगी। जो पैसा आयेगा उससे तेरे लिए जूते खरीद देंगे।'

बात वाल्या को जँच गई। उसने बड़े जोर-शोर से काम शुरू कर दिया। अब वह दिनभर टोकरी हाथ में थामे पुदीने की झाड़ियों में घूमा करती थी। उसका अनमनापन भी मिट गया था।

वाल्या भी ज़ेनिया की तरह मुझे बड़ा परेशान करती थी और ज़ेनिया को सुधारने के लिए मुझे जो प्रयोग करना पड़े थे उन्हें याद कर-करके अब वाल्या पर आजमाना पड़ रहे थे। यह सही है कि वह जमीन पर लोटकर पांव नहीं पछाड़ती थी और न चरागाह में अकेली भागकर ही जाती थी। परन्तु वह बाल-हठ, जिसके मारे बड़ों की नानी मरती है, वाल्या में भी उतना ही था, जितना कि ज़ेनिया में।

कुछ दिनों के लिए वाल्या में एक और भी बुरी आदत घर कर गई थी: सोते समय वह हमें बड़ा परेशान करती और कभी ठीक समयपर नहीं सोती थी। दिन में तो कोई खास बात नहीं होती थी। वह बड़े ही समझदार बच्चे की तरह पेश आती थी। पर ज्यों ही रात होती वह अपना आपा खो बैठती थी। मैं वास्या के हाथ-मुँह धुलाकर सुला देती थी और वह ऊँघ भी जाता था; परन्तु वाल्या किसी न किसी 'बहुत ज़रूरी' काम में लगी ही रहती थी।

वह अपनी नन्हीं आवाज़ में ठुनककर कहती: 'बस, ज़रा-सी देर और...'

जब मैं और बर्दाश्त न कर सकी तो मैंने उसकी यह आदत छुड़ाने का निश्चय कर लिया।

इसके लिए मैंने वह दिन चुना जब मेरे पति रात में 'ओवरटाईम' करने गये हुए थे। उनके कारखानेवाली नयी इमारत बन गई थी और, मास्को शहर के ठीक बीच में, हमें वादे के अनुसार एक कमरा भी मिल गया था। उस कमरे में बिजली बत्ती, नल और गैस का पाईप भी था। हां, कमरा सिर्फ एक ही था।

तीनों बड़े बच्चे नाटक देखने गये हुए थे। आठबजे मैंने वाल्या को सुला दिया। वाल्या ने हमेशा की तरह कहा: 'अम्माँ, आधा घण्टा और ठहर जाओ।' उसदिन मैंने कोई आग्रह नहीं किया। उसकी बात स्वीकार करली।

'अच्छी बात है! लेकिन शर्त यह है कि आधे घण्टे बाद स्वयं तुम्हें अपनी पूरी तैयारियां करना होंगी।'

उसने इसपर कोई ध्यान नहीं दिया। मैंने सोचा, ठीक है, देखा जायगा। और बिना कुछ कहे-सुने मैं अपने काम में लग गई। घर में बिलकुल सन्नाटा था और वाल्या के सांस लेने की आवाज़ तक सुनाई दे रही थी। मानों या न मानों, बीस मिनट बाद वाल्या थककर बोली:

'अम्माँ, मैं सोना चाहती हूँ।'

जिसतरह मेरे भाई मिशा ने पहले दिन ज़ेनिया के साथ व्यवहार किया था वह मैं भूली नहीं थी। मैंने सोचा कि अभी सबक़ पूरा नहीं हुआ है।

'अभी जल्दी क्या है? थोड़ा और ठहरो।'

पांचमिनट बाद उसने फिर कहा: 'अम्माँ, मैं सोना चाहती हूँ।'

'जैसी तुम्हारी मर्ज़ी, पर इससमय मुझे फुर्सत नहीं है। कपड़े खोलकर खुद ही हाथ-मुँह धोलो!'

उसे यह अच्छा न लगा; परन्तु मैं भी अपने निश्चय पर अड़ी रही। 'आज भले ही हाथ-मुँह न धोये परन्तु आगे के लिए सबक़ तो होजायगा' वह हाथ-मुँह धोने की चौकी के पास गई और खड़ी भिनभिनाती रही। मैं कुछ न बोली। थोड़ी देर की चुप्पी के बाद उसने पूछा:

'पाँव रहने दूँ?'

'नहीं, पाँव भी धोओ।'

थोड़ी देर फिर चुप्पी, उसके बाद डुकडता हुआ स्वर: 'पर पानी जो ठण्डा है!'

'होगा, मैं क्या करूँ?'

फिर भिनभिनाहट और पानी बजने की आवाज़। उसके बाद झन से बजता हुआ कुछ आगिरा। उसने पानी लुढ़का दिया था। अच्छी बात है!

मैंने ज़रा कड़े स्वर में कहा: 'फ़र्श पोंछना मत भूल जाना।'

चुप्पी।

'और तिपाई भी साफ करना, भला।'

'मैं नहीं कर सकती।'

'यह मेरा काम नहीं है। मैं तुम्हें समयपर सुलाना चाहती थी; परन्तु वह तुम्हें अच्छा न लगा। अब जैसा कुछ बने, तुम्हें ही करना होगा।'

उसे आधे घण्टे से ऊपर ही लग गया। बालटी, तिपाई और फ़र्श की सफाई उस जैसी बच्ची के लिए मामुली काम न था। बेचारी थक गई। अन्त में जब लेटी तो बोली:

'अम्माँ!'

'हाँ?'

'क्या आज मुझे प्यार न करोगी?'

सोने से पहले सब बच्चों को प्यार करना मेरी आदत में शुमार होगया था। यह एक ऐसी प्रथा थी जो भीषण अपराध करने पर दण्ड देने के लिए ही तोड़ी जाती थी।

लेकिन आज चूँकि सबकुछ नियमविरुद्ध चल रहा था, मुझे विवश होकर वाल्या की इस माँग को ठुकराना पड़ा।

'नहीं, वाल्या, इससमय मुझे फुर्सत नहीं है, कई ज़रूरी काम करना पड़े हैं।'

मेरा दिल दया से उमड़ आया था। मैं उसकी मदद करने के लिए व्यग्र होउठी थी। परन्तु यह सोचकर कि बिना सख्ती किये उसका हठ नहीं तोड़ा जासकेगा अपनेआप को रोके रही।

'पर अम्माँ!' उसकी आँखों में आँसू आगये थे।

'आग्रह मत करो। कह दिया, मुझे फुर्सत नहीं है।' मैंने रुखाई से जवाब दिया और उसके समस्त अनुनय-विनय और आँसुओं को पी गई। थोड़ी देर में उसे नींद आगई। सबक़ बुरा न रहा। उसके बाद सोते समय रोना-धोना, बहस-मुबाहसा सब बन्द होगया। उसका हठ भी बहुत कुछ कम होगया था। सिर्फ वह बगीचे के काम से जी चुराने लगी थी। लेकिन जबसे उसने पुदीने की पत्तियाँ जमा करने का काम उठाया था, उसकी यह आदत भी अपनेआप मिट गई थी।

१६३५ की अट्ठारहवीं जून को सवेरे के समय, हमेशा की तरह, वाल्या पुदीने की पत्तियाँ चुनती हुई फाटक तक जापहुँची थी। हठात् मैंने उसे चिल्लाते सुना:

'अम्माँ, अम्माँ! हमारे फाटक पर मोटर खड़ी है!'

मोटर गाड़ी से मेरे बच्चों का साबिक़ा कम ही पड़ता था इसलिए जब मोटर हमारे फाटक पर आकर रुकी तो वाल्या का चिल्लाना स्वाभाविक ही था।

हम साश्चर्य एक दूसरे की ओर देखने लगे। वास्या और ज़ेनिया फाटक की ओर लपके। हम बड़े भी उठकर खड़े होगये।

आगन्तुक 'कोम्सोमोल्स्काया प्रावदा' (सोवियत रूस का युवकों का प्रमुख समाचार पत्र) के सम्पादक मण्डल के सदस्य थे और, जैसा कि उन्होंने हमसे बतलाया, वे हमारे परिवार के प्रत्येक सदस्य से रूबरू मिलने के लिए आये थे।

परिचय और कुशल क्षेम तो बड़े ही औपचारिक ढङ्ग से हुआ, परन्तु उसके बाद वे हममें ऐसे घुल-मिल गये मानों बरसों पुराना परिचय हो। बच्चे उनकी मोटर का भोंपू बजाने लगे और ज़ेनिया तथा लेना ने उन्हें कुतिया के पिल्ले दिखलाये।

फिर आगन्तुकों ने फोटू खींचने का कैमरा निकाला। असली लैका कैमरा था। उन्होंने दर्जनों फोटू लिये। हमारे घर के हर कोने का, सारे परिवार का एकसाथ और परिवार के हर सदस्य का अलग-अलग फोटू खींचा गया।

भोजन से पहले हम सब मोटर में लदकर झील में तैरने गये। हँसी-मज़ाक, आमोद-प्रमोद और बात-चीत का फुहारा ही छूट रहा था। मुझसे मेरे प्रत्येक बच्चे के सम्बन्ध में और बच्चों से मेरे बारे में प्रश्न पूछे गये। और यह सब बड़े ही स्वाभाविक ढङ्ग से हुआ। सम्पादकगण अक्सर अपनी जेबों से नोटबुकें निकालकर उनमें कुछ लिखते भी जाते थे। परन्तु उनके इस व्यवहार से हमारे स्नेहभाव में कोई अन्तर नहीं पड़ने पाया। पहले ही क्षण से जो सौहार्द्र उत्पन्न होगया था वह अन्ततक वैसा ही बना रहा।

जाने कैसे हमने अपने अतिथियों को सबकुछ बतला दिया था। हर बच्चे की कहानी के साथ, चूहे और खरहे पालने की बात, वाल्या का दुराग्रह और अब जूतों के लिए पुदीने के पत्ते इकट्ठे करने की बात और गाय खरीदने के लिए मास्कोसोवियत से मिले रुपये कम पड़जाने की बात भी कह सुनाई थी।

अन्त में हमारे अतिथियों ने सालभर तक सर्जी को अपना पत्र मुफ्त भेजने और हमें शीघ्र ही अपनी खींची तसवीरें भेजने का वादा किया और तब हमसे विदा माँगी।

तभी लेना ने एकाएक बड़ी ही उत्कण्ठा से कहा: 'अरे, हमें इन्हें बड़ी सड़क तक छोड़ आना चाहिये, नहीं तो ये रास्ता ही भूल जाएँगे।'

ड्राइवर को उसका मन्शा समझते देर न लगी। उसने मुस्कराकर कहा: 'तुम्हारा कहना बिलकुल सच है। आओ, बैठ जाओ।'

लेना और ज़ेनिया ने आपस में एक दूसरे की ओर देखा और तब मुझसे अनुनयपूर्वक बोलीं:

'क्यों अम्माँ, हम जासकती हैं ?'

अतिथियों ने उनकी ओर से कहा: 'कृपया, अनुमति दे दीजिये।'

मैंने स्वीकृति देदी।

हमने अन्तिमबार हाथ मिलाये और मोटर चलदी। लड़कियों के उत्साह का तो कोई पार नहीं था। दोनों मोटर में बैठीं रुमाल हिला रही थीं।

मोटर में से किसीने चिल्लाकर कहा: 'अब अपनी लड़कियों की उम्मीद छोड़िये। हम उन्हें अपने साथ मास्को लिये जारहे हैं!'

उक्त घटना के थोड़े ही दिनों बाद 'कोम्सोमोल्स्काया प्रावदा' में एक विशेष लेख छपा। उसका शीर्षक था: 'इंजीनियर फ्लौमर का परिवार'। लेख के साथ हमारे सारे परिवार की एक बड़ी-सी तस्बीर छपी थी और उस तसबीर में हमारी कुतिया जेरी भी बैठी दिखलाई गई थी।

छठवाँ परिच्छेद

'कोम्सोमोल्स्काया प्रावदा' में लेख छपने के कोई दस दिन बाद मुझे एक ही डाक से दो पत्र मिले। एक अखबार के दफ्तर से आया था। उसमें लिखा था कि उनके दफ्तर में मेरे नाम से कई पत्र आये हुए हैं। दूसरा पत्र मास्कोसोवियत का था। उन्होंने मुझे फिर मिलने के लिए बुलाया था, क्योंकि उन्हें मुझसे कुछ बातें करना थीं।

मुझे शहर जाना ही पड़ा।

ट्रेन में एक सर्वथा अपरिचित महिला ने मुझे बैठने के लिए जगह दी। मैं उसे धन्यवाद देकर बैठ गई। क्षणभर बाद उस महिला ने बातचीत शुरू की:

'क्षमा कीजियेगा, क्या आप ही श्रीमती नटालिया अलेक्ज़ेन्ड्रोवना फ्लौमर हैं?'

'जी हाँ, परन्तु क्षमा कीजियेगा, मैंने आपको पहिचाना नहीं। कहीं मिले हों ऐसा भी याद नहीं पड़ता।'

'जी नहीं, हम मिलीं तो कभी नहीं...लेकिन क्या मैं... आपसे हाथ मिला सकती हूँ?'

मैंने हाथ आगे बढ़ा दिया और प्रश्नसूचक मुद्रा में उसकी ओर देखने लगी।

'मैं जानती हूँ कि आप मुझे नहीं पहिचानतीं; परन्तु मैंने आपके सम्बन्ध में अखबार में लेख पढ़ा है।' उस महिला ने शीघ्रतापूर्वक कहा।

एकसाथ कई चेहरे मेरी दिशा में मुड़ गये।

किसी ने पूछा: 'क्या सबकुछ सच है?'

'क्या सच ही आपके पाँच बच्चे हैं और उनमें एक भी आपका अपना नहीं है?' सफेद टोपी पहिने हुए एक बूढ़े आदमी ने मुझसे प्रश्न किया।

एक दूसरे दुबले और चिड़चिड़े-से लगते आदमी ने, जिसके हाथ में चमड़े का बस्ता था, विषादपूर्ण स्वर में कहा: 'यहाँ तो एक ही लड़के ने नाक में दम कर रखा है।'

मैं एकदम इसतरह घिर गई थी कि ठीक से उत्तर देने की सुध भी न रही। पर ज़ेनिया ने, जो उससमय मेरे साथ थी, मेरी बड़ी सहायता की।

उन्होंने हर बात खोद-खोदकर पूछी। आपको बचे कैसे मिले? क्या आप उन्हें प्यार करती हैं? आपके पति को कैसा लगता है? आपने बच्चों का पालन-पोषण कैसे किया? आपकी आमदनी क्या है? क्या बच्चे आपको प्यार करते हैं? आदि-आदि। अन्तिम प्रश्न ज़ेनिया को अच्छा न लगा। उसने रोषपूर्वक कहा:

'भला, कौन बच्चा अपनी माँ को प्यार नहीं करता?'

जब प्रश्नों की यह झड़ी लग रही थी, ज़ेनिया ने मौक़ा देखकर मेरे कान में कहा:

'क्यों अम्माँ, क्या अब लोग-बाग इसीतरह पूछते रहेंगे?'

वह बिलकुल ही घबरा गई थी।

मैंने उसे और अपनेआप को भी आश्वासन देते हुए कहा: 'नहीं बेटी, हमेशा नहीं।'

इसतरह हम मास्को पहुँचीं।

मैंने पहले मास्कोसोवियत और उसके बाद अखबार के दफ्तर में जाना तै किया।

मास्कोसोवियत के दफ्तर में हमें कई स्नेहपूर्ण उलहने दिये गये।

'आप हमसे छिपाती क्यों रहीं?' मुझे मीठी झिड़की मिली। 'गाय के लिए रुपए कम पड़ गये, पर हमसे कहातक नहीं। फिर बाज़ार में गाय देखने की ग़लती क्यों की? हम कृषि-विभाग के नाम पत्र दिये देते हैं। आप वहाँ से गाय खरीद लीजिये।'

उसीसमय चिट्ठी लिखकर हमारे हवाले की गई और बीसियों शुभेच्छाओं सहित हम माँ बेटी को विदा दीगई।

जाते-जाते मुझसे कहा गया: 'अब किसी भी चीज़ की ज़रूरत हो तो सीधे हमारे पास आइयेगा। संकोच करने की कोई ज़रूरत नहीं है।'

वहाँ से हम 'कोम्सोमोल्स्काया प्रावदा' के दफ्तर गईं।

'यह सब क्या है?' जब मेरे सामने तरह-तरह के लिफाफों का ढेर लग गया तो मैं कह उठी।

'ये? आपके नाम आये पत्र हैं।'

उन्होंने इसतरह कहा, मानों कुछ हुआ ही न हो।

'मेरे नाम आये? इतने सारे पत्र? कहाँ से?'

कहाँ से? सो तो देखना पड़ेगा। देखिये, ये स्तालिनग्राद से आये हैं। ये रोस्तोव और मारोस्लावल से। यह एक लेलिनग्राद से। और यह टस्कोव से। ये कुछ यहीं के हैं। लेनिनग्राद का यह एक और है और एक इवानोवो और दूसरा गोर्की का है।'

'भूगोल सीखने का ढङ्ग तो अच्छा है।' किसीने मज़ाक की।

मैं पत्रों के ढेर के आगे हक्का-बक्का ही रह गई।

ज़ेनिया पूछ बैठी: 'क्या हमें हर पत्र का उत्तर देना पड़ेगा?'

'निस्सन्देह, देना ही पड़ेगा।' उसे साफ-साफ सुना दिया गया।

'आपको सेक्रेटरी की ज़रूरत पड़ेगी।' किसीने हँसते हुए कहा।'

घर लौटकर मैं, सेरेज़ा, लेना और ज़ेनिया, चारों, पत्रों का जवाब लिखने बैठे। हर पत्र का विषय अलग-अलग था। कुछ तो सीधे बच्चों के नाम थे। कुछ पूरे परिवार के नाम। कुछ मेरे और डेविड इवानोविच के नाम। कुछ में सिर्फ बधाइयाँ, शुभेच्छाएँ आदि व्यक्त की गई थीं। कुछ ने हमारे जीवन के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक जानना चाहा था। कुछ पत्र ज़रा गम्भीर ढङ्ग के भी थे। उन पत्रों के लेखकों ने कई महत्त्वपूर्ण समस्याओं का निराकरण चाहा था। वे समस्याएँ पारिवारिक-सम्बन्ध और शिक्षा को लेकर थीं।

बच्चों के अधिकांश पत्रों का उत्तर तो सर्जी ने लिख दिया। परन्तु वह बीच-बीच में मुझसे सलाह लेता जाता था।

'अम्माँ, देखना तो, ठीक है न?' वह लिखा हुआ कागज़ मुझे दिखलाकर पूछता था।

उसके लिखे पाँच-छह पत्र पढ़ने के बाद मैंने विरोध किया:

'बेटा, मुझे स्वयं इतने सारे पत्रों का जवाब देना है। क्या तुम स्वयं जवाब नहीं दे सकते?'

सर्जी ने झेंपते हुए कहा: 'दे क्यों नहीं सकता अम्माँ? परन्तु गलतियों का डर लगता है। कहीं गलत-शलत लिख गया तो बड़ी भद्दी होगी!'

अब ज़ेनिया उठकर मेरे पास आई। उधर देखा तो लेना रानी फुर्ती से सुई चला रही थी। जब कभी कोई कठिनाई पेश होती, तो वह सीने बैठ जाती थी। थोड़ी देरतक चुप रहने के बाद ज़ेनिया ने कहा:

अम्माँ, मैंने और लेना जीजी ने आपस में सोचा है कि यदि हमारे हिज्जे और व्याकरण दुरुस्त होती तो हम तुम्हारी सेक्रेटरी बन जातीं।'

अब मालूम पड़ा है हिज्जों और व्याकरण का महत्त्व!

तीनों बच्चों ने अपने लजाये चेहरे नीचे कर लिये।

मैंने हँसकर कहा: अच्छे सहायक हो तुम! अब मालूम हुआ न पढ़ने का महत्व!'

पर लेना इतनी सरलता से हार माननेवाली नहीं थी। वह झट से उठी।

'ज़रा ठहरो, मुझे एक बात याद होआई है।'

थोड़ी देर में वह अपनी फटी-पुरानी किताब उठा लाई। यह उसकी व्याकरण की किताब थी, जिसे देखते ही उसे बुखार चढ़ जाया करता था।

उसने हँसते हुए कहा: 'अभी भी कुछ नहीं बिगड़ा है। जब जागे तभी सवेरा। लाओ अम्माँ, चिट्ठियाँ दो। शर्त बदती हूँ कि हिज्जों की एक भी गलती नहीं करूँगी। तुम स्वयं देख लेना।'

हमने फिर डाक की छँटनी की। दोनो बहिनों को सिर्फ वे ही पत्र दिये जिनमें बधाई और शुभेच्छाएँ व्यक्त की गई थीं।

'तुम मेरे दस्तखत भी कर सकती हो।' मैंने कहा।

'नहीं, अम्माँ, सो ठीक न होगा। लोग लिखावट देखते ही समझ जाएँगे कि तुमने नहीं लिखा है। और कोई ढङ्ग सोचना पड़ेगा।'

दोनो बहनें बड़ी देरतक घुसर-पुसर करती रहीं और व्याकरण की पोथी देखती रहीं। अन्त में चिट्ठी की उनकी इबारत तैयार होगई। उन्होंने लिखा था:

'प्रिय बन्धु, आपकी शुभेच्छाओं के लिए अम्मां की ओर से हम आपको बहुत-बहुत धन्यवाद देती हैं। इन दिनों हमारे नाम इतने सारे पत्र आरहे हैं कि अम्मां सबका जवाब स्वयं नहीं दे सकतीं, इसलिए हम उनकी सेक्रेटरी बन गई हैं। अम्मां आपको अपनी शुभेच्छाएँ और प्रणाम लिखाती हैं।

'आपकी कृपाभिलाषिणी,
लेना और ज़ेनिया फ्लौमर'

लेना ने डरते-डरते पूछा: 'क्यों अम्मां 'कृपाभिलाषिणी' की 'षि' छोटी होगी न?'

'हां बेटी।' मैंने मुस्कराकर उत्तर दिया।

चिट्ठियों का तांता लगा ही रहा। कई चिट्ठियां तो मैं जीवनभर नहीं भूलूँगी। एक लाल सैनिक ने, जो उन दिनों सुदूरपूर्व में तैनात था, वाल्या और वास्या के नाम स्वयं अपना बनाया एक बड़ा ही मनोरंजक गीत लिख भेजा था। यह गीत एक रीछ के बच्चे के सम्बन्ध में था। दोनो बच्चों ने उसे जबानी याद कर लिया था और उसे गाते हुए घर—आंगन में उछलते फिरते थे।

फिर 'कोम्सोमोलस्काया प्रावदा' के नाम बारह आवारे लड़कों का पत्र आया। अखबार ने पत्र छाप दिया और उसकी मूल प्रति हमारे पास भेजदी। एक रद्दी काग़ज़ पर बड़ी-बड़ी और टेढ़ी-मेढ़ी बेतरतीब लिखावट में उन लड़कों ने इस बात पर खुशी प्रकट की थी कि 'जो कुछ उन्हें भुगतना पड़ा था वह दूसरे पांच बच्चों को न भुगतना पड़ा।' अपने सम्बन्ध में उन्होंने लिखा था:

'हम जानते हैं कि हमारी दशा बहुत बुरी है। लेकिन आवारगी के हम कुछ इतने आदी होगये हैं कि स्वयं होकर उससे पीछा नहीं छुड़ा सकेंगे।

अन्त में लिखा था:

'हम बारह हैं। मैं उम्र में सबसे बड़ा हूँ। हममें से प्रत्येक एक पैसा रोज़ बचाता है और हम 'कोम्सोमोल्स्काया प्रावदा' का इन्तज़ार करते हैं। यह पत्र हम पहले कभी नहीं पढ़ते थे...

इस पत्र के साथ सम्पादकों ने निम्न टिप्पणी भी छाप दी थी: संपादक पत्र के लेखकों से मिलना चाहते हैं। अपनी सुविधा से वे 'कोम्सोमोल्स्काया प्रावदा' के दफ्तर में, २५ नम्बर के कमरे में आकर मिल सकते हैं।'

और इस निमन्त्रण के उत्तर में 'पत्र-लेखक मिलने के लिए आये भी थे। बारह के बारह तो नहीं आये थे। परन्तु उन्होंने एक प्रतिनिधि मण्डल भेजा था। उसमें तीन सदस्य थे, जो उन सबमें सबसे ज्यादा निडर समझे जाते थे। उनकी हालत बहुत ही करुणाजनक थी। बेहद गन्दे, फटे हुए कपड़े, हद दर्जे के अविश्वासी और कुछ ढीट भी। उन्होंने मेरे बच्चों से मिलने की अभिलाषा व्यक्त की और सम्पादकों ने हमें फ़ोन करके बुला भेजा। सौभाग्य से उसदिन हम शहर में ही थे।

परिचय कराया गया। फ्लौमर परिवार के बच्चों की ओरसे ज़ेनिया और सेरेज़ा ने प्रतिनिधित्व किया। धीरे-धीरे सम्पादकों ने उन 'प्रतिनिधियों' को अपने मन की बात कहने के लिए विवश कर दिया। बच्चाघर (अनाथालय) में जाने की उनकी उम्र न रह गई थी और वे वहाँ जाना भी नहीं चाहते थे। परन्तु आवारगी के मुक्त जीवन से भी वे ऊब चुके थे। चोरी, गुण्डागिरी और मटर-गश्ती से मुक्ति पाने की उन प्रतिनिधियों ने हार्दिक उत्कण्ठा प्रदर्शित की थी।

उनमें चपटी नाक और चेहरे पर चित्तीवाला चौदह बरस का एक मोटा-ताज़ा लड़का था। उसकी हार्दिक अभिलाषा रसोइया बनने की थी। अपनी अभिलाषा के प्रमाणस्वरूप उसने अन्त में यह भी कहा कि सब लड़कों के लिए आलू पकाने का काम भी वही करता है।

दूसरा लड़का कभी औजार बनाने और कभी बिजली का काम सीखने की बात कहता था। तीसरे लड़के का कोई निश्चित ध्येय नहीं था। वह नाक सुड़कता हुआ कहता रहा:

'जो ये करेंगे वही मैं करूँगा।'

'कोम्सोमोल्स्काया प्राव्दा' ने तीनों को मास्को के समीप एक औद्योगिक स्कूल में भर्ती करा दिया। कई दिनोंतक उन तीनों के पत्र हमारे पास आते रहे। उनमें उस चपटी नाकवाले रसोइये के पत्र विशेषरूप से भावुकतापूर्ण होते थे। उसने लिखा था:

'मेरी मनोकामना पूरी होगई। अब मैं कारखाने के रसोईघर में सहायक रसोइया हूँ। 'सूप' बनाने में बड़ा ही सिद्धहस्त समझा जाता हूँ। मैं चाहता हूँ कि कभी आप लोग भी आकर मेरे बनाये 'सूप' का रसास्वादन करें। मैंने स्वयं एकप्रकार के झोल का आविष्कार किया है, जो आटा उबालकर बनाया जाता है और सारे कारखाने में उसकी बड़ी धूम है।'

शुरू के कुछ मित्रों के साथ तो मैंने पत्रव्यवहार का बाकायदा सिलसिला ही शुरू कर दिया था।

इतनी चिट्ठियाँ आती थीं और वे इतनी अच्छी होती थीं कि मुझे बड़ा ही सुख मिलने लगा था। और मेरा यह विश्वास दृढ़ होगया था कि मैं सर्वत्र भले, दयालु और सज्जन लोगों के बीच रह रही हूँ।

लेकिन जब पत्रों में मुझसे मेरी 'शिक्षाप्रणाली' के सम्बन्ध में पूछा जाता था तो मेरी समझ में नहीं आ पाता था कि क्या जवाब दूँ? सच

पूछे तो मेरी कोई प्रणाली ही नहीं थी । मैं बच्चों को प्यार करती थी और उनके पालन-पोषण में कुछ उठा न रखती थी । परन्तु लोग जानने के लिए उत्सुक थे और मैं यथासंभव उनका समाधान करने का प्रयत्न करती थी । लेकिन साथ ही मैंने पाया कि प्रश्नों के मूल में कुतूहल की अपेक्षा युवा माताओं के अज्ञान की मात्रा ही अधिक रहती थी ।

कुछ समय बाद चिट्ठियों की मार तो कम होगई, परन्तु अब बच्चों के लिए उपहार भेजे जाने लगे । यह जानते हुए भी कि भेजनेवाले स्नेह और सौहार्द्र के कारण भेजते हैं, उन्हें स्वीकार करते हुए बड़ा ही संकोच होता था । और लगता था कि यह ज्यादती की जारही है ।

उपहारों में सबसे अधिक उल्लेखनीय गाय का उपहार था । उतनी अच्छी गाय तो हमने कभी सपने में भी नहीं सोची थी । जिसदिन वह हमारे घर आई हमने उत्सव ही मना डाला ।

उसे भूरी के औसारे में ही बाँधा गया । यह नयी गाय थी भी बड़ी खूबसूतर, सुशील और समझदार । उसकी भौंहें सफेद थीं । हमने उसका नामकरण किया 'कबरी' ।

दूसरा उपहार, उपहार क्या, हमारे घर की कायापलट ही थी । एक दिन फिर हमारे फाटक पर मोटर का भोंपू सुनाई दिया ।

लेबा यह कहते हुए फाटक खोलने के लिए लपकी: 'हो न हो, अखबार वाले आये हैं ।'

लेकिन इसबार आनेवाले मेरे पति की पनचक्की 'ग्लावमुका' के लोग थे । वहाँ की ट्रेडयूनियन और पार्टी समिति के प्रतिनिधि यह जानने के लिए आये थे कि घर की कोई मरम्मत तो नहीं करना है । उनदिनों हमारा घर बड़ी ही जराजीर्ण अवस्था में था । बरामदा डगमगाने लगा था, फर्श उखड़ गई थी और छत टपकने लगी थी ।

वे बच्चों के लिए कुछ उपहार भी लाये थे। नन्हों के लिए जूते तथा ज़ेनिया और लेना के लिए गरम 'पुलओवर'। सर्जी के लिए उड़ाकों के काम में आनेवाले चमड़े के दस्ताने थे। इसके सिवा ढेरों मिठाई आई थी! बच्चों ने इतनी मिठाई घर में इससे पहले कभी न देखी थी।

एकसाथ इतनी सारी मिठाई देखकर छोटे बच्चे तो चकित ही रह गये। खुद मेरी छाती भी उभराने लगी थी और आंसू रोकने के लिए मुझे बार-बार खँखारना पड़ा। मेरे बच्चों के प्रति यह जो स्नेह प्रदर्शित किया जारहा था उसने मुझे पूरीतरह गद्‌गद् कर दिया था।

मारे खुशी के दोनों बहिनों की आंखें चमकने लगी थीं। गर्मी पड़ रही थी फिर भी उन्होंने अपने 'पुलओवर' पहिन लिये थे; और उनके प्रसन्न चेहरे देखते ही बनते थे। खुद सर्जी ने भी अपने दस्ताने चढ़ा लिये थे और अपने हाथों को बड़े आनन्द से देख रहा था।

बच्चों की इस खुशी में मैं भी खुश थी। मेरे पति भी जो हमेशा बड़े ही संयत रहा करते थे, न जाने क्यों मुस्कराने लगे थे और अतिथियों के साथ हँसी-मज़ाक करने लगे थे।

वे लोग एक ग्रामोफ़ोन भी लाये थे। बगीचे की हरी दूबपर बच्चे नाचे और वहीं हमने अपने अतिथियों के साथ चाय पी। फिर ग्रामोफ़ोन, कबरी गैया और कुतिया के साथ हमने फोटू खिचवाये।

जाने से पहले वे लोग वाल्या और वास्या के पांवों का नाप भी लेते गये।

ट्रेडयूनियन समिति के अध्यक्ष ने मुझसे कहा: 'श्रीमती नटालिया अलेकज़ेन्ड्रोवना, आप बच्चों के फेल्ट जूतों के सम्बन्ध में किसीतरह की चिन्ता न करें। हम शीघ्र ही दो जोड़ जूतों का प्रबन्ध कर देंगे।'

जब मोटर चलने लगी तो वाल्या, अपनी रात की पोशाक में बाहर बगीचे में दौड़ी आई और बोली:

'अम्माँ, अरी ओ अम्माँ, तुम उन्हें पुदीने की पत्तियाँ देना तो भूल ही गईं। अब भला, हम उनका क्या करेंगे?'

और मैंने उसे आश्वासन दिया कि कल ही जाकर पत्तियाँ कारखाने वालों को दे आऊँगी। उसे इस सन्तोष और अभिमान से वंचित करना, कि उसने स्वयं जूते परिश्रम करके प्राप्त किये हैं, बहुत अनुचित होता।

× × ×

अगस्त के महीने में सर्जी को सूचना मिली कि वह विमान विद्या के स्कूल में भर्ती कर लिया गया है। उसकी खुशी का ठिकाना न रहा। उसने उन थोड़े से शब्दों को बार-बार पढ़ा, जो मिल गया उसको पत्र दिखलाया और बड़े मनोयोग से यात्रा की तैयारी करने लगा।

मैं मन मारे अपने बेटे की यात्रा की तैयारियाँ कर रही थी। वियोग स्वाभाविक और अवश्यंभावी था। मन ही मन समझती थी कि अपने उद्देश्य के प्रति सर्जी की लगन और उत्साह देखकर मुझे प्रसन्न होना चाहिये। यह कहकर मन को ढाढ़स बँधाने का प्रयत्न करती थी कि सर्जी को प्रोत्साहित करना मेरा कर्त्तव्य है। लेकिन अपने अन्दर की माँ को कैसे समझाती? वह तो अपने बेटे के आसन्न वियोग से अधमरी हुई जारही थी! अपने बच्चों को बड़े होकर तितर-बितर होते देख जो मातृत्व बिल्ली को धाड़ें मार-मारकर रुलाता है उसी मातृत्व पर काबू पाना उससमय मेरे वश के बाहर हुआ जारहा था।

परन्तु सर्जी मेरी भावनाओं से सर्वथा अपरिचित था। वह बार-बार अपनी भावी योजनाएँ लेकर मेरे पास आता था और घण्टों बैठकर सोवियत उड़ाकों के किस्से, जो उसने अखबारों और मासिकपत्रों में पढ़ रखे थे, सुनाया करता। बड़े ही उत्साह से वह यह भी साबित करने का प्रयत्न करता था कि हवाईसेना सारी सेना का मुकुटमणि है। मैं इन बातों से भलीभाँति परिचित थी और कभी-कभी तो उकता भी जाती थी। परन्तु मैंने पाया कि सर्जी को मुझे वे सब बातें सुनाने में अपार आनन्द मिलता था।

अन्त में सर्जी की विदा का दिन भी आपहुँचा। हमारे भावी पाइलाट (विमान चालाक) के सामान में घरवालों की तस्वीरें और ग्लावमुका के मित्रों से उपहार में मिले चमड़े के दस्तानों को छोड़ और कुछ न था।

मैंने साथ ले जाने के लिए कुछ केक्स (मीठी रोटियाँ) पका दिये थे। ज़ेनिया ने अपने भाई के, अन्दर पहिनने के कपड़े धोकर इस्त्री करदी थी। लेना रानी ने उसके तमाम मोजों की मरम्मत कर डाली थी। वाल्या और वास्या तो अपने बड़े भाई के पीछे छाया की तरह लगे फिर रहे थे।

मेरे पति ठीक पांच बजे काम से लौटे। गाड़ी आठ बजे जाती थी। छह बजे सर्जी अपने दो मित्रों के साथ घर आया और हम सब खाना खाने बैठे। मेज़ पर बढ़िया लाल शराब की एक बोतल भी थी।

मेरे पति ने बड़ी ही गम्भीरता से प्यालियों में शराब ढाली। फिर अपने उद्वेग को छिपाने के लिए परिहासपूर्ण स्वर में कहा:

–'हमारे भावी उड़ाके के सम्मान में ! सर्जी, बेटा, कहीं परिवार के नाम को बट्टा मत लगाना !'

हमने आपस में एक दूसरे से प्यालियां खनकाईं। मेरे हाथ कांप रहे थे और मैं डर रही थी कि कहीं बच्चे मेरी दुर्बलता को ताड़ न जायें।

'सोवियत राज्य और स्तालिन की वायुसेना के सम्मान में !' सर्जी ने उत्तर दिया।

उसने एक ही घूँट में 'पेग' खाली कर दिया और बैठकर खाना शुरू किया।

थोड़ी देरतक सभी खाने पर जुटे रहे। दुबारा फिर प्यालियां भरी गईं। इसबार सर्जी उठा और मेरी ओर मुड़कर बोला:

'और यह मेरे माता-पिता के सन्मान में, जिन्होंने मेरा...हम सभी का लालन-पालन किया। अम्मां और बाबूजी के सम्मान में ! हमारे परिवार के सम्मान में !'

यह 'अम्माँ और बाबूजी' उसने इसतरह बालसुलभ लाड़ भरे स्वर में कहा था कि मैं, जैसा कि मेरे पति ने बतलाया, 'अपने आंसू न रोक सकी।' लेकिन क्षणभर में ही मैं प्रकृतिस्थ होगई और सब हँसी-मज़ाक तथा बातचीत करने और सेरेझा को हरतरह की सलाहें देकर तङ्ग करने लगे।

स्टेशन तक हम सब हँसते-बोलते और शोर-सा मचाते हुए गये। ट्रेन पर भी खूब हँसी-मज़ाक होता रहा और मुझे जी भरकर रोने का अवसर ही नहीं दिया गया!

हमारा पहला बच्चा पंख आते ही घोंसले से उड़ गया था।

जब बच्चे बड़े होकर, दुनिया में अपने पांवों पर खड़े होने के लिए घर छोड़कर चले जाते हैं उससमय सभी माताएँ संभवत: जैसा करती हैं, ठीक वैसा ही मैंने भी किया। सर्जी ने अपने विमानविद्या के स्कूल से मुझे जो पहला पत्र भेजा था वह आज भी मेरे पास सुरक्षित रखा है।

उसने लिखा था:

प्यारी अम्माँ और बाबूजी, मैं यहाँ सकुशल पहुँच गया हूँ। आते ही हमारे नाम दर्ज़ कर लिये गये और आज हमें हमारी वर्दी भी दे दी गई है। वर्दी में एक जोड़ा जूता, पायजामा, कोट और बनियाइन मिले हैं। एक बिलकुल नया और बहुत बढ़िया कम्बल, दो चादरें और एक तकिया भी दिया गया है। यों समझो कि ज़रूरत का पूरा सामान ही मिल गया है। इसी महीने की पांच तारीख तक मुझे मेरा ओवरकोट भी मिल जायेगा और तब मैं सही मायने में उड़ाका बन जाऊँगा।

'अम्माँ, विशेषरूप से तुम्हारी ही जानकारी के लिए लिख रहा हूँ कि यहाँ हमें बहुत ही बढ़िया खाना मिलता है और खाने के बाद दूध, छाछ या फलों का सलाद तीनों में से हमें जो भी पसन्द हो ले सकते हैं।

'अम्माँ, तुमसे एक काम है। मेरे लिए उड़ाकों के बटन खरीद देना। लेकिन वे पीतल के होने चाहियें। इन बटनों को सुनहरी कहते

हैं। नीचे मैं उनका नाप दे रहा हूँ। हमें जो वर्दियाँ मिली हैं उनमें काले बटन हैं; जबकि हमें सुनहरी बटन लगाने का अधिकार है परन्तु उसमें के बटन यहाँ मिलते नहीं। कुल मिलाकर ११२ छोटे और उतने ही बड़े बटनों की आवश्यकता है। ये बटन, जैसा कि तुम समझ सकती हो, सिर्फ मेरे ही लिए नहीं, सभी लड़कों के लिए हैं।'

नीचे उसने जहाँ बटन मिलते थे वहाँ का ठिकाना लिखा था और निम्न वाक्यों के साथ पत्र समाप्त किया था:

'यह बहुत बुरा है कि उन्होंने इतनी जल्दी बत्तियाँ बुझादीं। सबको मेरा प्यार। तुम्हारे पत्र और बटनों की प्रतीक्षा में,

—सर्जी।'

हस्ताक्षर के बाद उसने दो गोले खींचे थे—एक छोटा और दूसरा बड़ा। ये उन बटनों की नपती थी।

अपने 'वयस्क' बेटे की चिट्ठी पढ़कर मैं हँस दी। सुनहरी बटन! हर लड़के की यही तो अभिलाषा होती है कि वह सुनहरी बटन पहिन सके। और आज जबकि उसे पहिनने का अधिकार मिला था वहाँ बटन मिल नहीं रहे थे। इससे भी अधिक दुःख की बात और क्या होसकती थी।

मैंने सर्जी के निवेदन का अक्षरशः पालन किया। लेकिन यहाँ यह भी स्वीकार करलूँ कि 'मिलिट्री सप्लाईज शॉप' (वह दुकान जहाँ फौजी आवश्यकता का सामान मिलता है) के क्लर्कों ने जब एक बुढ़िया को २२४ सुनहरी बटन माँगते और उन्हें एक कागज़ पर नापते हुए देखा तो बेचारे हैरान ही रह गये।

× × ×

वह दिन अच्छीतरह याद है। १९३५ के नवम्बर महीने की २८वीं तारीख थी। हमारा दिन हमेशा की तरह ही आरम्भ हुआ। कामपर जानेवालों में सबसे पहली लेना थी। इधर वही सबसे पहले उठती थी

क्योंकि इन दिनों वह त्वेरस्काया स्ट्रीट के बिजली कारखाने में काम करती थी और वह जगह काफी दूर पड़ती थी। फिर ज़ेनिया स्कूल गई और अन्त में मेरे पति भी काम पर चले गये।

मैं सुबह की सफाई आदि से निपटकर बच्चों के साथ घूमने के लिए जा ही रही थी कि 'भड़ से' हमारे कमरे का दरवाज़ा खोलकर हाँफती-काँपती और अखबार हवा में हिलाती हुई पड़ौसिन अन्दर आई।

'अरी बहिना, ओ नटालिया अलेक्ज़ेन्द्रोवना ! क्या तुमने यह अभीतक नहीं देखा है ? मैं कह-कहकर हार गई, परन्तु हमारे 'उनको' तो विश्वास ही नहीं होरहा है। अब बतलाओ क्या करूँ ? आँखों में अँगुलिया डालकर तो बतलाने से रही। मैं कहती हूँ—उन्हीं के बारे में है, और वह कहते हैं हो ही नहीं सकता ! पर यह जो अखबार में छपा है, पढ़कर देख लो। पर आदमी की जात, औरत को तो कुछ समझते ही नहीं ! न समझें, मेरी बला से। यहाँ तो लिखे का प्रमाण मानते हैं। भई, मेरी ओर से भी बधाई, टोकनियाँ भर-भर कर, गाड़ियाँ भर-भर कर वधाई। बधाई, प्यारी बहिना, बधाई ! लो, देखो तो, कितनी खुशी की और साथ ही कितनी अनोखी बात है !'

वह इसीतरह बड़-बड़ करती रही। मेरी तो खाक-पत्थर कुछ भी समझ में न आया। हैरान थी कि आखिर मामला क्या है ? और वह भलीमानस अपनी ही धुन में मस्त डाकगाड़ी की तरह बोली चली जारही थी। पचास दफे अखबार का नाम लिया होगा पर उसे छोड़ती ही न थी।

आखिर मैंने उसे रोकते हुए कहा: 'पर, बहिन, ज़रा पढ़ने तो दो। मैं भी तो देखूं कि बात क्या है ? तुम्हारा कहना तो कुछ पल्ले नहीं पड़ रहा है।'

तभी टेलिफोन की घण्टी वज उठी। पड़ौसिन अखबार साथ लिये उधर लपकी और लौट आकर बोली: 'लो नटालिया बहिन, तुम्हारा ही टेलिफोन है।'

'नटाशा,' मुझे अपने पति का स्वर पहिचानते देर न लगी। हाँ, वही बोल रहे थे: 'तुम्हें मालूम हुआ...' और वह रुक गये। किसी गहरे उद्वेग के कारण उनका गला भर आया था। वह सन्नाटा मेरे लिए दूभर होगया।

'क्या हुआ? कहते क्यों नहीं? क्यों दिक् कर रहे हो? पैरों पड़ती हूँ, झट बताओ!'

मैं स्वयं इतनी उत्तेजित होउठी थी कि अपने स्वभाव के विपरीत टेलीफ़ोन के चोंगे में गला फाड़कर चिल्लाने लगी थी।

'क्या तुमने अभीतक अखबार नहीं देखे?' मेरे पति ने पूछा और झट से आगे बोले: 'तो सुनो, 'इज़वेस्तिया' में जो समाचार छपा है वही पढ़कर सुनाये देता हूँ—सोवियत संघ की केन्द्रीय कार्यकारिणी समिति के सभापति मण्डल की बैठक में, सभापति मण्डल ने सर्वसम्मति से, मास्को निवासी डी० आई० और एन० ए० फ्लौमर दम्पत्ति को, पाँच परित्यक्त बच्चों का पालन-पोषण कर, नागरिक उत्तरदायित्व का अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत करने के उपलक्ष में, सर्टिफिकेट आफ़ आनर (सोवियत देश में समाजहित का अभूतपूर्व काम करने के उपलक्ष में राज्य की ओर से मिलनेवाला बड़ा से बड़ा सन्मान) प्रदान करने का निर्णय किया है...'

हमारा अति सामान्य जीवन इतने बड़े राष्ट्रीय सन्मान से विभूषित किया गया था—यह समझ में आते ही मेरी जो दशा हुई वह वर्णनातीत है! मेरा हृदय कृतज्ञता से भर आया, साथ ही एक महान् उत्तरदायित्व का खयाल भी आया और मैंने संकल्प किया कि राष्ट्र और पार्टी ने मुझमें जो विश्वास प्रकट किया है, अपने आपको उसके उपयुक्त बनाने में कुछ भी उठा न रखूँगी। संक्षेप में यह कि वह बात सुनते ही मैं बादलों में उड़ने लगी थी।

केवल उसदिन मेरे पति पहलीबार काम पर से जल्दी लौटे। हम दोनों पति-पत्नी शान्ति से बैठकर अपने विगत जीवन की घटनाओं को याद करने लगे। सेरेज़ा, लेना, ज़ेनिया और दोनों छोटे बच्चों का घर में प्रथम आगमन भी हमें याद आया और अखबार के उस छोटे-से सँवाद को हम दोनों पति-पत्नी ने बार-बार पढ़ा।

मैं सदा से यह मानती आई थी कि सम्मानित होने का अधिकार सिर्फ उन्हीं को है, जो कोई अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और वीरता के कार्य करते हैं। इसलिए मेरी समझ में नहीं आरहा था कि हम लोगों ने ऐसा कौन-सा महत्त्वपूर्ण कार्य किया था।

हम पति-पत्नी बैठे इन्हीं बातों पर विचार कर रहे थे कि टेलिफ़ोन रह-रहकर बजने लगा और हमारी शान्ति भँग होगई।

बिजली कारखाने से लेना का टेलीफ़ोन आया, ज़ेनिया ने अपने स्कूल से फ़ोन किया। ग्लावमुका के साथियों ने, हमारे मित्रों और परिचितों ने, 'कोम्सोमोल्स्कायाप्रावदा' के सम्पादकमण्डल तथा दूसरे समाचार पत्रों के दफ्तरों ने, मास्को सोवियत ने, और न्यूज़रील डिपार्टमेण्ट (सिनेमा समाचार विभाग) ने फ़ोन किया और दूसरी बीसियों जगहों से टेलिफ़ोन पर टेलिफ़ोन आने लगे! मैंने उनका और उनकी बधाइयों का आभार माना।

अन्त में हम पति-पत्नी ने मिलकर सोवियत संघ की केन्द्रीय व्यवस्थापिका समिति और उसके सभापति माइखेल इवानोविच कालिनिन (अब स्वर्गीय) के नाम एक पत्र लिखकर कृतज्ञता प्रदर्शित की।

क्रेमलिन में हम लोगों को 'सन्मान-पत्र' के साथ सीलबन्द लिफाफे में पन्द्रह हज़ार रूबल भी दिये गये। उसी वक्त अपने स्वास्थ्य की सार-सँभाल के लिए मेरे पति को ग्लावमुका के व्यवस्था-फण्ड (प्राविडेण्ट फण्ड?) से बहुत-सा रुपया मिला और बच्चों के लिए फ्लोअर मिलइण्डस्ट्रीज़ (आटा-चक्की उद्योग) की केन्द्रीय श्रमसमिति की ओर से काफी रुपया दिया गया।

मुझे सबकुछ स्वप्नवत् लग रहा था। रुपए हाथ में आते ही सबसे पहले हमने अपना कर्जा बेबाक किया। फिर मकान में कुछ वृद्धि की और उसमें गर्मी पहुँचाने के साधनों में सुधार किया। मास्को से अपने देहाती घर को सजाने के लिए कुछ फर्नीचर भी लाये। दोनों बहिनों को उनके चिरअभिलिषित कैनवास के जूतों के सिवा, घूमने जाने के जूते, रबर के बरसाती जूते और रेशमी ब्लाऊज़ भी खरीद दिये। दोनों छोटे बच्चों के लिए तो सिर से पाँवतक सबकुछ नया खरीदा गया। सर्जी को भी नये कपड़ों की पार्सल भेजी गई। खुद मैंने भी अपने लिए एक नयी पोशाक का आर्डर दिया, जिसके चयन में दोनों बहिनों ने मेरी बड़ी सहायता की।

इस सन्मान के साथ पत्रों को तो झड़ी ही लग गई। और इसबार के पत्र-व्यवहार में अकस्मात् मुझे निउषा का पत्र मिला। यह वही निउषा थी, जो अपनी माँ के साथ हमारे यहां रहती थी और मेरे पति की स्वर्गीया भतीजी फ्लेरोच्का की सहेली थी।

उसने लिखा था: 'आपके बारे में अखबारों में पढ़कर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। मैं अकसर आपके बारे में सोचा करती थी और आपसे मिलने के लिए उत्सुक भी बहुत थी परन्तु पता मालूम न होने से आ न सकी। अब अखबारों में अनाथ बच्चों के पालन-पोषण के उपलक्ष में सम्मानपत्र मिलने की बात पढ़कर मैंने सोचा कि हो न हो यह फ्लौमर दम्पत्ति आप ही लोग होने चाहियें। क्योंकि मुझे अपने बचपन में आपसे मिले वात्सल्य की अभी भी अच्छीतरह याद है। मेरी माँ बेचारी अफसोस करते-करते मर गई कि नाहक मुझे आपकी छत्रछाया से हटाया! उसके बाद तो हमारे दिन बड़ी मुसीबत में बीते। परन्तु अब उन बीती बातों को याद करने से लाभ ही क्या? अब तो आपकी दया से सब कुशल-मंगल है और हम मजे में हैं। लेकिन यह तो बतलाइये कि अखबारों में फ्लोरेच्का का नाम क्यों नहीं है? उसे क्या हो गया?'

निउषा को अपनी सहेली की मृत्यु का पता न था। मैंने उसे तत्काल निमन्त्रण दिया और वह मिलने के लिए आई भी। वह मास्को के समीप ही रहती और लेथमशीन (खेराद) पर काम करती थी। अब उसकी अपनी गृहस्थी और अपने बाल-बच्चे थे। हमारी वह सांझ बड़ी हँसी-खुशी से बीती। हमने अपने बीते दिनों की और वर्तमान जीवन की अनेकों बातें कीं।

इस बीच पत्रों की झड़ी तो लगी ही रही। मेरी दोनों सेक्रेटरी, लेना और ज़ेनिया, स्वयं भी बड़ी व्यस्त थीं। एक को कारखाने के मारे तो दूसरी को पढ़ाई से फुर्सत नहीं थी। और यदि उन्हें अवकाश होता तब भी इसबार के पत्रों का उत्तर देना उनके बस का न था। क्योंकि इसबार के प्रत्येक पत्र में बधाई और शुभेच्छाओं के साथ, घुमा-फिराकर यही प्रश्न पूछा गया था कि अपने अनुभव से हमारी सहायता कीजिये, बच्चों के साथ अपनी सफलता का 'रहस्य' हमें भी बतलाइये।

कुछ युवा माता-पिताओं ने तो यह धारणा बनाली थी कि चूँकि, मैं सगी माँ नहीं थी इसलिए बच्चों की उसतरह सार-सँभाल करना मेरे लिए अपेक्षाकृत सरल हुआ। 'संभवतः आप उन्हें उतना प्यार नहीं करतीं और यही कारण है कि उनके प्रति आपकी ममता भी उतनी अधिक नहीं है।' (अधिकांश लोगों का मेरी सफलता के सम्बन्ध में यही खयाल था।) मेरे लिए इस बात के सत्यासत्य का निर्णय करना बड़ा ही कठिन था। मेरी अपनी कोई सन्तान नहीं थी। परन्तु मेरे लेखे अपने पोषित बच्चों और पेट के बच्चों में कोई अन्तर नहीं था। मैं अपनी पौष्य सन्तान को पेट के बच्चों ही की तरह मानती और प्यार करती हूँ। और मेरा दृढ़ विश्वास है कि यदि मेरी अपनी सन्तान होती तो भी मैं उसे इससे अधिक प्यार न करती।

इसतरह के पत्र पढ़कर हम पति-पत्नी अपने पारिवारिक जीवन की अनेकों विगत घटनाओं की छानबीन करते थे और यों पहलीबार जीवन का मूल्याङ्कन करने लगे थे।

हर बच्चे के साथ मुझे अपने व्यवहार का ढङ्ग बदलना पड़ा था। जिस बच्चे का जैसा व्यक्तित्व और जैसी रुचि होती, मैं उसके साथ उसी ढङ्ग से पेश आती थी। परन्तु यह सब मैं अपने अनगिनत पत्र-लेखकों को कैसे समझाती? कभी तो सिर्फ आंखें तरेरने से ही काम निकल जाता था और बच्चे झट से कहना मान जाते थे; परन्तु कभी कड़े तरीकों का प्रयोग भी करना पड़ता था। जैसा कि मैंने एकबार ज़ेनिया के साथ किया था। उसे काली रोटी का टुकड़ा देकर घर से निकाल दिया था कि जाकर 'दूसरी माँ' खोज ले! परन्तु पत्र-लेखकों को यह सब बतलाकर उनका समाधान करना बड़ा ही कठिन काम था।

'आप अपने बच्चों को अनुशासन में कैसे रखती हैं?' मेरे कई पत्र-लेखक अकसर पूछते थे।

इसका सिर्फ एक ही जवाब है—धैर्य और प्रेम, परन्तु साथ ही दृढ़ता। हम अपने बच्चों से असंभव की माँग कभी नहीं करते थे। हम बच्चों को दौड़-धूप करने, शोर-गुल मचाने या खेलने-कूदने से कभी नहीं रोकते थे। जब बच्चे बगीचे में खेलकर गन्दे या मिट्टी में लथपथ होजाते और वैसे ही घर के अन्दर चले आते थे तो हम उन्हें कभी झिड़कते नहीं थे और व्यर्थ का बावेला नहीं मचाते थे। लेकिन मेरे सभी बच्चे जानते थे कि बिना हाथ-मुँह धोये भोजन करने नहीं बैठा जाता। वे यह भी जानते थे की सोना और खाना दोनों काम नियत समय पर होजाने चाहियें ताकि अम्माँ को खाना लेकर बैठ रहना न पड़े। अम्माँ का खयाल उन्हें करना ही पड़ता था क्योंकि वह उनकी तरह युवा नहीं थी और दूसरे, उसे कड़ा परिश्रम भी करना पड़ता था। बड़े बच्चों को इन नियमों का पालन करते देख छोटे भी अनुशासन का पालन करने लगते थे।

जब मैं इन प्रश्नों में उलझी हुई थी तभी मेरे सामने एक सर्वथा नयी समस्या उपस्थित हुई; मेरी लड़कियाँ प्रेम करने लगी थीं।

युवावस्था में दो दिलों का सरल और अकृत्रिम आकर्षण उतना ही स्वाभाविक है जितना कि बचपन में दूध के दाँत गिरना। और मेरे बच्चे भी कोई अपवाद नहीं थे। लेकिन इस सिद्धान्त से परिचित होते हुए भी उसके आचरण के लिए मैं तैयार नहीं थी।

लेना की पहली मुहब्बत तो चार दिन की चाँदनी निकली। जैसे ही उसे मालूम हुआ कि रोज़-रोज़ आनेवाला उसका प्रेमी जेरी का पिल्ला उठा ले गया है तो सारा 'प्रेम-प्रसंग' मिट्टी में मिल गया। लेना मेरी छाती से लगकर फूट-फूटकर रोई। जैसा कि उसका स्वभाव था, उसे इस घटना से काफी चोट पहुँची थी। लेकिन मैं निश्चयपूर्वक नहीं कह सकती था कि कौनसी बात ने उसे ज्यादा चोट पहुँचाई—पिल्ले की चोरी ने या पुरुषजाति के प्रति अविश्वास ने?

वह अकसर पूछ बैठती: 'क्यों अम्माँ, क्या वह सिर्फ उस पिल्ले के लिए ही यहाँ आता था?'

मैं उसे यह कहकर दिलासा देना चाहती थी कि नहीं रानी, तू ही उसकी आंखों का तारा थी; परन्तु दुःख इस बात का था कि पिल्ले का गुम होना कुछ और ही प्रमाणित करता था।

इस घटना के बाद चिन्ता का और भी गहरा कारण उपस्थित हुआ। हमारे एक दूर के सम्बन्धी ने, जो प्रौढ़ होचला था, अब लेना पर डोरे डालना शुरू किया! लेना ने जब एक बड़े-बूढ़े को यों अपनी खातिर करते देखा तो वह फूली न समाई। अब वह हज़रत रोज़ आने लगे और जब मैं घर न होती तो अपने साथ ग्रामोफोन भी लाने लगे थे। मुझे उनके रंग-ढङ्ग कुछ अच्छे न दिखाई दिये। इसे यों ही चलने देने का परिणाम भी अच्छा न होता। मैं लेना के मनोभावों का बारीकी से निरीक्षण करने लगी। उसके मन में क्या था? कहीं वह फिसल तो नहीं रही थी? नहीं, ऐसी बात तो नहीं थी। मेरी बड़ी बेटी का हृदय अविचलित था। सिर्फ

एस० की खातिर-तवज्जह से उसके अभिमान को पोषण मिलता था। जब वह दुबारा आया तो मैंने उसे आड़े हाथों लिया।

'देखो जी, लेना तुम्हारी जीवन-संगिनी बनने के उपयुक्त नहीं है। तुम उससे उमर में काफी बड़े हो। अच्छा हो कि कोई और पत्नी ढूंढ़ो। नाहक़ क्यों लड़की को परेशान कर रहे हो।'

वह अविश्वास के भाव से सुनता रहा और मेरे समस्त तर्कों को एक ही उड़ती दलील में खत्म कर दिया:

'मौसी, तुम नयी पीढ़ी को समझने में असमर्थ हो।'

उसके इस उत्तर से मैं तिलमिला उठी! क्या सोवियत देश के माता-पिता और बच्चों के बीच वही खाई होसकती है जो दूसरे देशों में विद्यमान है? मेरा मन इसे स्वीकार करने को तैयार न हुआ।

—'सो कैसे?' मैंने पूछा: क्या नयी पीढ़ी के उद्देश्य और आदर्श हम बूढ़ों के उद्देशों से भिन्न हैं?'

'मेरा तात्पर्य राजनीति से नहीं भावनाओं से है। 'जोड़े मिलने' का जमाना अब बदल गया है। आज की लड़कियां तो पक्की शादी से पहले 'कच्ची शादियां' कर अनुभव कर लेना चाहती हैं; और कई तो बिना शादियों के ही भुगता लेती हैं।'

घृणा से मेरा मन भर आया।

देखिये हज़रत, मेरे जमाने में भी सिर-फिरों की कमी नहीं थी। उससमय तो उनकी संख्या आज से अधिक ही थी। क्यों न एक काम किया जाय! लेना से ही पूछा जाय। देखें, वह आपकी बात सुनकर क्या कहती है?

उसके तो पांवतले की धरती खिसक गई। घबड़ाकर बोला: 'इसकी तो कोई आवश्यकता नहीं है।'

परन्तु मैंने तो उसे सबक़ सिखाने का निश्चय कर लिया था। हम सोने के कमरे में बैठे बातें कर रहे थे। लेना को वहीं बुलवाया और जैसे कोई बात ही न हुई हो इसतरह कहा:

'लेनोच्का, तुम्हारे प्रति मिस्टर एस० का प्रणय-निवेदन तो अर्से से देख रही हूँ। परन्तु इधर कुछ दिनों से यह मेरी अनुपस्थिति में आने लगे हैं। इसलिए आज इनसे इस सम्बन्ध में बोलने का निश्चय किया है।'

लेना सिर झुकाये व्यग्रतापूर्वक रूमाल को अंगुलियों से लपेटने लगी।

मैं आगे बोली: 'एस० का कहना है कि मैं नयी पीढ़ी के मनोभावों को नहीं समझती। इनके कथनानुसार आज की लड़कियां पक्की शादी से पहले कच्ची शादियां करती हैं। यह भी तुम्हारे साथ ऐसी ही कच्ची शादी करने को उतावले होरहे हैं।'

मैंने जानबूझकर उसी मूर्खतापूर्ण लहजे में कहा, जो उन हजरत ने अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते समय अपनाया था।

लेना मारे गुस्से और अपमान के कांपने लगी और चिल्ला पड़ी: 'यह कहने का इनका साहस ही कैसे हुआ? कितनी घृणित बात है।'

और वह कमरे से भाग गई।

घूँट बड़ी कड़वी थी परन्तु एक ही, खुराक़ में काम बन गया। लेना को उसकी सूरत से ही घृणा होगई। मैं भी निश्चिन्त हुई कि चलो, लड़कियां उसके फन्दे से छूटीं और भविष्य में ऐसों को पास भी न फटकने देंगी।

स्वाभाविक था कि ज़ेनिया अपनी बहिन की नक़ल करती। परन्तु दोनों की उम्र में पूरे दो साल का अन्तर था और उसका असर होना भी लाजमी था। लेना सोलह बरस की थी। जैसा कि प्रेमियों की परिभाषा में कहते हैं लोग उसपर 'मरते थे।' लेना को 'मरने वालों' की भीड़ देखकर खुशी

तो होती थी परन्तु उसके मनोभावों में कोई विशेष परिवर्तन नहीं होता था। दूसरे, कोई भी बात उसके पेट में पचती नहीं थी। दस ही मिनट बाद वह सारी 'बात' कह सुनाती थी।

लेकिन ज़ेनिया के साथ ऐसा नहीं था। वह अभी सिर्फ चौदह बरस की थी। लोग-बाग उसे बच्ची समझते थे। इससे उसे ईर्ष्या होती थी। अपनी बहिन की तरह फूलों के गुच्छे पाने, और नाच, सिनेमा या नाटक का निमन्त्रण पाने के लिए वह मरी जाती थी।

वह लेना की तरह 'बाहर भीतर एक' नहीं थी। इधर तो वह और भी मौन रहने लगी थी। झूठी प्रतिष्ठा के फेर में पड़कर दूसरों से सब कुछ छिपाकर रखने की क्षमता भी उसमें थी। इसलिये मेरी चिन्ता और भी बढ़ गई थी।

× × ×

इधर कुछ दिनों से मैंने पाया कि ज़ेनिया का सिनेमा देखने का शौक़ बहुत बढ़ गया था।

पढ़ते-पढ़ते अकसर वह सिनेमा देखने जाने का राग अलापने लगती थी: 'अम्मां, क्या मैं सिनेमा जा सकती हूँ? मेरी 'सहेलियों' ने न्यौता दिया है।'

मैं बेमन से उसे इजाजत दे देती थी। मैं यह जानने के लिए व्यग्र थी कि आखिर ज़ेनिया की वे रहस्यमय सहेलियां कौन थीं, जो हरबार उसे न्यौता देती थीं! अपने बच्चों के संगी-साथियों की मैं हमेशा जानकारी बनाये रखने का प्रयत्न करती थी। क्योंकि कभी-कभी मित्रों और संगी-साथियों का प्रभाव माता-पिता के प्रभाव को भी कम कर देता है।

लेकिन इधर परिस्थितियाँ ही कुछ ऐसी होगई थीं कि मुझे विवश होकर अपने उक्त नियम की अवहेलना करनी पड़ी थी।

एक शाम, जब मैं दिनभर की भाग-दौड़ से थककर चूर अपने बिस्तरे पर पड़ी आराम कर रही थी तो ज़ेनिया ने सदा की तरह रट लगाई:

'अम्मां, मैं सिनेमा जारही हूँ।'

मेरे पति ने अखबार से सिर उठाकर कहा:

'नहीं।'

ज़ेनिया उनकी कुर्सी के हत्तेपर बैठ गई और बोली:

'नहीं क्यों, पिताजी?'

'तुम इसी हफ्ते दोबार हो आई हो। रोज़-रोज़ सिनेमा जाने की कोई ज़रूरत नहीं।'

'रोज जाने को कहाँ कहती हूँ। सिर्फ आज ही जाने दीजिये। बड़ा अच्छा खेल है। जाऊँ न, पिताजी? फिर बहुत दिनोंतक नहीं जाऊँगी।'

'नहीं।' उसके पिता ने सारी अनुनय-विनय अस्वीकार कर दी।

लेना को शैतानी सूझी। वह छेड़ने लगी: 'अरे, अरे, पिताजी के हाथ-पाँव जोड़ना भी किसी काम न आया।'

ज़ेनिया की आंखों में आंसू छलक आये।

'बस, यही देख आने दीजिये।'

इसबार डेविड इवानोविच ने ज़रा सख्ती से कहा: 'ज़ेनिया, इसमें बहस करने की कौन सी बात है? मैंने साफ़-साफ़ तो कह दिया है कि नहीं, तुम आज नहीं जासकती। और किसीदिन मेरे या अपनी अम्मां के साथ चली जाना।'

'लेकिन आप या तो थक जाते हैं या फिर फुर्सत में नहीं रहते! और मेरी मर्जी आज ही जाने की होरही है।'

मैंने अधमुँदी आंखों से ज़ेनिया की ओर देखा। उसका उदास और रुआंसा चेहरा देखकर मुझे दया आगई। मैं बोली:

'इतनी देर आराम करने के बाद मैं कुछ तरो-ताज़ा होगई हूँ और स्वयं मेरा मन भी सिनेमा जाने का होरहा है। तो ऐसा क्यों न करें? चल, मैं भी तेरे साथ चलती हूँ। तू आगे जाकर दो टिकट तो खरीदले।'

मैंने सोचा था कि यह सुनते ही ज़ेनिया खुशी से उछल पड़ेगी। लेकिन पहले तो वह स्तंभित रह गई और फिर मुँह लटका लिया।

मुझे सन्देह हुआ कि बात दूसरी ही है। अच्छे खेल का तो सिर्फ बहाना ही बहाना है।

जब ज़ेनिया ने देखा कि और कोई चारा नहीं है तो उसे मन मारकर उठना ही पड़ा। बीस मिनट बाद वह दो टिकट खरीद कर लौटी।

मुझसे आँखें चुराते हुए उसने कहा: 'देर होगई थी इसलिए दोनों टिकट अलग-अलग बैठकों के मिले हैं!'

'अपने पास ही रहने दो।' मैंने शान्ति से उत्तर दिया; परन्तु मेरा सन्देह और भी बढ़ गया था।

आधे घण्टे बाद हमने सिनेमाघर में प्रवेश किया। ज़ेनिया का मुँह अभी भी फूला हुआ था और वह बेचैनी से इधर-उधर देखती जाती थी।

'ज़ेनिच्का, क्या तुम किसी को खोज रही हो?' मैंने पूछा।

सुनते ही तत्काल उसके चेहरे का भाव बदल गया। बचपन से आँखों में जिसतरह के सूनेपन का भाव लाने में वह प्रवीण थी उसी सूनेपन के साथ उसने मुँह बिचकाकर कहा:

'नहीं तो! पर क्या मैं लोगों को देखूँ भी नहीं?'

उसके इस बेतुके जवाब से मुझे क्रोध आगया। मैंने रूखेपन से उत्तर दिया:

'देखने को कौन मना करता है, परन्तु यों अधीर होने की क्या आवश्यकता है?'

टिकट मांगने पर ज़ेनिया ने दोनों टिकट देदिये। गेटकीपर ने कहा:

'यह एक तो ऊपर 'बालकनी' का है। इन सीढ़ियों से चले जाइये।'

ज़ेनिया ने फुर्ती से सीढ़ी पर पाँव रखते हुए कहा: 'मैं ही ऊपर जाती हूँ।'

'यदि टिकट बदले जासकें तो मैं बदलना पसन्द करूँगी ताकि हम दोनों माँ-बेटी पास-पास बैठ सकें।'

लेकिन ज़ेनिया ने मेरी बात काटते हुए कहा: 'तबतक तो खेल शुरू होजायगा। मुझे ही ऊपर बालकनी में जाने दो।'

बालकनी में जाने का उसका यह आग्रह देखकर मेरे सन्देह की पुष्टि होगई। मैंने निश्चयात्मक स्वर में कहा:

'नहीं ज़ेनिच्का, तू नीचे बैठ।'

'पर अम्माँ, तुम थकी हुई हो। नाहक़ ऊपर चढ़कर और क्यों थकती हो?'

अपने प्रति उसकी यह सदाजाग्रत चिन्ता देखकर मैं अपनी हँसी न रोक सकी। मैंने कहा:

'कोई चिन्ता की बात नहीं है। मैं चढ़ जाऊँगी।'

और उसके उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना मैं खट्-खट् करती हुई ज़ीना चढ़ने लगी। ज़ेनिया के ओठ काँप रहे थे परन्तु मैंने उस ओर देखकर भी न देखा।

बालकनी में मेरे पासवाली जगह खाली थी। मैंने नीचे देखा: बारहवीं कतार में ज़ेनिया मन मारे, सिर झुकाये उदास बैठी थी।

थोड़ी देर में एक युवक मेरे समीप आया। मुझे बैठा देख उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। पहले उसने अपना टिकट देखा, फिर बैठक

का नम्बर मिलाया। कतार का नम्बर भी देख लिया। नहीं, कहीं कोई ग़लती नहीं थी। सब नम्बर बराबर मिल रहे थे।

वह मेरे पास अपनी जगह पर बैठ गया। उसकी उम्र पन्द्रह साल के लगभग होगी। उसकी पोशाक साफ-सुथरी और उसकी सुरुचि का परिचय दे रही थी। उसका उन्मुक्त और मनोहर चेहरा अभी भी बचकाना लगता था।

वह बड़ा अधीर मालूम पड़ता था। कभी पीछे देखता, कभी दाएँ और कभी बाएँ और कभी बड़े ही अचरज में मुझे देखने लगता था। मेरा तो हँसी रोकना मुश्किल हो गया। मुँह में रूमाल ठूँसे किसीतरह हँसी रोके रही। नीचे गलियारे में ज़ेनिया भी तो इसीतरह फुदकी थी। तो ये 'सहेलियाँ' थी जिनसे वह सिनेमा में मिलने के लिए दौड़कर आया करती थी।

मैं अपने चेहरे को निर्विकार बनाये रखने का प्रयत्न करती पर्दे की ओर देखने लगी। खेल शुरू होने में अब कोई देर न थी।

आखिर जब वह लड़का अपने आप को रोक न सका तो टोपी उतारकर मुझसे बड़ी ही विनम्रता पूर्वक बोला:

'मेरी धृष्टता क्षमा कीजियेगा। परन्तु कहीं आपने भूल तो नहीं की है? भूल से दूसरे की जगह तो नहीं बैठ गई हैं?'

'बिलकुल नहीं।' मैंने गम्भीरता से जवाब दिया और उसे अपना टिकट दिखला दिया।

मारे आश्चर्य के उसकी आँखें फैल गईं।

'क्यों, क्या हो गया?' मैंने पूछा।

वह बड़ी हीं विह्वलता से बोला: 'आपवाला टिकट...'

वह हिचकिचाया। मैं यह जानने के लिए उत्कंठित हो उठी कि देखें, वह किन शब्दों में ज़ेनिया का उल्लेख करता है!

उसने बड़ी ही सरलता और निष्कपटता से अपनी बात पूरी की: 'मेरी सहपाठी का है। कल हम दोनों ने ये टिकट साथ खरीदे थे। और आज आकर देखता हूँ तो वह नदारद है।'

वह फिर हिचकिचाने लगा। लेकिन इसबार मैंने उसकी सहायता की:

'और उसके बदले में आधमकीं। है न विचित्र बात!'

'जी हाँ, बड़ी ही अनोखी बात है! मेरा खयाल है कि उसे कुछ ज़रूरी काम लग गया होगा और उसने अपना टिकट आपको बेच दिया होगा। परन्तु वह मुझे फाटक पर भी नहीं मिली। मैं बड़ी देरतक वहाँ खड़ा उसकी प्रतीक्षा करता रहा।'

उसकी स्पष्टोक्ति और निष्कपटता मुझे अच्छी लगी। मैंने कहा:

'नहीं, उसने टिकट तो नहीं बेचा है। वह वहाँ नीचे बैठी है।'

मैंने नीचे जहाँ ज़ेनिया बैठी थी दिखलाते हुए कहा। लड़का जैसे ही देखने के लिए झुका बत्ती बुझ गई और वह अँधेरे में कुछ देख न सका।

वह आगे सवाल करता ही इसलिए मैंने ही कह दिया: 'ज़ेनिया नीचे बैठी है और मैं उसकी माँ हूँ।'

अँधेरे में भी मैंने उसे लाज से लाल पड़ते देख लिया।

'क्षमा कीजियेगा।' पता नहीं वह काहे की क्षमा माँग रहा था? संभवत: वह स्वयं भी नहीं जानता था परन्तु इतना तो मैं देख रही थी कि अब वह बड़ी असुविधा महसूस करने लगा था।

'किसलिए?' मैंने हँसकर कहा: उल्टे क्षमा तो मुझे ही माँगना चाहिये। व्यर्थ ही तुम लोगों के आनन्द में बाधक हुई। लेकिन मुझे तुम्हारा और ज़ेनिया का यह रोज-रोज सिनेमा देखना बिलकुल पसन्द नहीं।'

तभी खेल शुरू होगया और पास-पड़ोस के लोगों ने हमें चुप होजाने के लिए कहा। मैंने उसके कान में कहा:

'अब खेल के बाद इस सम्बन्ध में बातें करेंगे।'

हम दोनों चुपचाप पर्दे की ओर देखने लगे। बीच में दो-एक बार मैंने नीचे देखा। ज़ेनिया उसीतरह मन मारे बैठी थी।

जब खेल ख़त्म हो गया तो वह लड़का उठ खड़ा हुआ। फिर अनिश्चय के-से भाव से मेरी ओर देखा और साहस बटोरकर कुछ ढीढता पूर्वक बोला:

'मेरी समझ में तो साथ सिनेमा देखने में कोई हानि नहीं है।'

वह बातचीत आगे चलाना चाहता था।

'हानि ? यह मैंने कब कहा। हानि कोई नहीं है; परन्तु हरकाम की मर्यादा होती है और उसका उल्लँघन नहीं होना चाहिये।'

उसने भौंहें चढ़ाकर विस्मय प्रगट किया मानों पूछ रहा हो कि 'मर्यादा' से आपका तात्पर्य क्या है ?

मैंने जान-बूझकर विषय-परिवर्तन करते हुए कहा: 'क्या तुम हमारे पड़ौस में ही रहते हो ?'

'उसी मकान में रहता हूँ।'

उसके स्वर में रूखापन था परन्तु मैंने उस ओर कोई ध्यान नहीं दिया।

'बड़ी अच्छी बात है। तो हम लोग क्यों न साथ ही घर चलें ?'

हम चुपचाप सीढ़ियाँ उतरे। मैं उससे कुछ आगे थी। ज़ेनिया दालान में खड़ी प्रतीक्षा कर रही थी। उसने अपने मित्र को देखकर भी न देखने का बहाना किया।

मेरे ध्यान को बँटाने के विचार से वह कहने लगी:

'क्यों अम्माँ, मैंने झूठ तो नहीं कहा था ? खेल कितना अच्छा था ! इसीलिए तो मैं आने को इतनी उत्सुक थी।'

मैंने उसे टोकते हुए कहा: 'ज़रा, मिनट भर के लिए रुको। क्या तुम अपने मित्र को नहीं देख रही हो? पहले हमारा आपस में परिचय तो करा दो।'

उसके चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगीं। लेकिन भागकर भी कहाँ जाती? लड़के की ओर देखे बिना ही किसी तरह बोली: 'यह मेरी माँ हैं, और यह हैं वोवा एस०।' इतना कहकर वह फाटक की ओर चल पड़ी।

'एस०?' मैंने दुहराया, क्योंकि वह तो एक बड़ा ही प्रसिद्ध नाम था।

'जी हाँ, मैं उन्हीं का लड़का हूँ।' वोवा ने अपने पिता के नाम का उल्लेख थोड़ी झल्लाहट के साथ किया क्योंकि वह समझ गया था कि अब उसके पिता की सज्जनता का हवाला दिया जायगा।

'तुम्हारे पिता तो बड़े सज्जन पुरुष हैं।' मैं अन चाहे भी कह ही गई।

'ज़ेनिया की माताजी भी तो लाखों में एक हैं।' उसने बालसुलभ बेढ़ङ्गेपन से कहा और हम तीनों हँस पड़े।

उस हँसी ने हमारा आपसी संकोच धो बहाया! घर पहुँचकर मैं फाटक पर रुकी और बोली:

'वोवा, तुम इतने जल्दी तो सोते नहीं हो! क्यों न चाय पीकर जाओ?'

ज़ेनिया ने चकित होकर मेरी ओर देखा पर मुँह से कुछ न बोली। वोवा अनिश्चय के भाव से देखता रहा। मैंने दर्वाज़ा खोलते हुए कहा: 'आओ, अन्दर चले आओ!'

'हाँ जी, अभी चाय रहेगी तो बढ़िया।' उसने ऊँचे स्वर में कहा। निश्चय ही वह किसी के स्वर की नकल कर रहा था।

घरपर मैंने डेविड इवानोविच और लेना से उसका परिचय कराया।

'वोवा एस० ज़ेनिया का सहपाठी! सिनेमा में भेंट होगई।'

लेना मुस्करा दी और लड़के से हाथ मिलाया। डेविड इवानोविच ने यों ही कुशल-मंगल पूछली।

चाय पीते समय हमने, जो सिनेमा देखकर लौटे थे उसके, यात्रा और नये स्थानों की खोज करनेवाले वीर अन्वेषकों के सम्बन्ध में बातें कीं! बोवा की सौजन्यता का सभीपर अच्छा प्रभाव पड़ा। वह बड़ा ही कुशाग्रबुद्धि, सुशील और सुघड़ युवक था। चारजनों के बीच ढङ्ग से व्यवहार करने का अभ्यस्त मालूम पड़ता था। हमने उसे दुबारा आने का निमन्त्रण भी दिया।

जब उसे विदा कर हम माँ-बेटी कमरे में लौट रही थीं तो अवसर देखकर ज़ेनिया मेरे गले से लिपट गई और बोली:

'अम्मां, तुम कितनी समझदार और निपुण हो! मेरी प्यारी-प्यारी अम्मी!'

'पगली, इसमें ऐसी कौनसी बुराई थी जो तूने पचीसों बहाने किये? राम जाने, तू सच बोलना कब सीखेगी?'

'अम्माँ, तुम्हारे सिर की कसम, अब कभी झूठ नहीं बोलूगी।'

'और भलीमानस, पहले ही कह देती, घर बुलाकर हमारा उससे परिचय करा देती तो मैं तुझे उसके साथ खुशी-खुशी सिनेमा जाने की इजाजत दे देती। लड़का बड़ा ही सुशील है! तू उसके साथ सब जगह निरापद घूम सकती है।'

ज़ेनिया तो मेरी बात सुनकर मारे खुशी के फूली न समाई।

वह कान लगाकर सुनती रही फिर बोली:

'भला है न? और ईमानदार तो इतना है कि तुम्हें क्या बतलाऊँ?' उसने बड़े ही उछाह से कहा और एकबार फिर ललककर मेरी छाती से लग गई।

'अम्माँ, ओह अम्माँ! तुम हर बात को कितनी अच्छीतरह से समझती हो!'

निश्चय ही, मेरी लड़की प्रेम करने लगी थी। और मुझे अकस्मात् ही पता लग गया था। यह सच है कि समय रहते ही मैंने उसपर प्रमाणित भी कर दिया था कि दूसरी बातों की तरह इस अत्यन्त गोपनीय विषय में भी मैं उसका विश्वास सम्पादन कर सकती हूँ! परन्तु क्या स्पष्टवादी होने के गुण में उसकी आस्था पूरी तरह दृढ़ होचुकी थी?

एकबार किसी अपरिचित महिला ने अपनी चौदह वर्षीया पुत्री का हवाला देते हुए लिखा था कि उन दोनों माँ-बेटी के आपसी सम्बन्धों में स्पष्टवादिता और निष्कपटता का नाम तक नहीं है। मैंने उत्तर में जेनिया और वोवा वाली पूरी घटना विस्तार से लिख भेजी! थोड़े दिनों बाद उसके पत्र में पता चला कि मेरा नुस्खा वहाँ भी कारगर साबित हुआ था।

× × ×

अकसर लोग-बाग मुझे राह चलते रोककर अपनी समस्याएँ सुनाने लगते थे। आमतौर पर माता-पिता अपने बच्चों के सम्बन्ध में एक ही शिकायत करते पाये जाते थे। वह यह कि उनके बच्चे बड़े ही अकृतज्ञ हैं झूठ बोलते हैं और बातें छिपाते हैं। एकबार एक माता ने शिकायत की:

'हमारी मुन्नी दूसरों को सबकुछ कह देगी, परन्तु मेरे सामने कुछ न बोलेगी। ऐसी चुप्पी साधती है कि मैं सिर पीटकर रह जाती हूँ। भला, कारण बतला सकती हो?'

'क्या आपके बच्चे सच बोलते हैं?' एक दूसरे पड़ोसी ने, जिससे सिर्फ मुँह देखे की पहिचान थी, एकबार छूटते ही पूछा।

'हां, सच ही बोलते हैं।' मैंने उत्तर दिया।

'यह कैसे सँभव हुआ?'

हम ज़ीने पर खड़े बातें कर रहे थे।

'सो क्या जानूँ ?' मुझे सच ही नहीं मालूम था।

उसने मेरी बाँह पकड़ली और बोला: 'इतने सस्ते मैं आपको छोड़ने वाला नहीं हूँ, सो समझ रखियेगा। आपको बतलाना ही होगा। याद करके बतलाइयेगा।'

मैंने उसके आग्रह को विमुख नहीं किया। खूब याद करती रही। जब हम सारातोव में थे तो सर्जी को लेकर एक घटना घटी थी। याद आते ही मैंने वह सारा किस्सा उस पिता को कह सुनाया। घटना इसप्रकार थी: एकबार सर्जी को कारखाने में कहीं एक कारतूस पड़ा मिल गया। उसने अपने एक हमउम्र साथी के साथ मिलकर कारतूस चक्की के पाटों के बीच धर दिया। धड़ाके की आवाज़ हुई और दोनों बच्चों को खरोंचे लग गये। सर्जी का साथी घरपर पिटने के डर से घबड़ा उठा और उसने अपने साथ सर्जी से भी झूठ बोलने का आग्रह किया। 'कह देना कि गिर पड़े थे, चोट आगई और कपड़े फट गये।' जब सेरेज़ा घर लौटा तो मैंने उसे झिड़कने और फटकार सुनाने के बदले बड़े ही चिन्तित-स्वर में कारण पूछा। उसने सबकुछ सच-सच बतला दिया। मैंने सच बात कहने के लिए उसकी प्रशंसा की और 'अपराध' के सम्बन्ध में सिर्फ यही कहा:

'अब आगे कभी ऐसा मत करना। हाथ-पाँव ही टूट जाएँगे।'

सच तो यह है कि उससमय सेरेज़ा को अच्छीतरह डांट-फटकार सुनाने की मेरे मन में आरही थी। परन्तु मैं अपने आप पर जब्त कर गई और दूसरे ही दिन मुझे उसका प्रत्यक्ष परिणाम भी देखने को मिल गया। सेरेज़ा बड़ी ही सहानुभूति के साथ अपने साथी से कह रहा था:

'अच्छा, तो घरवालों ने तुम्हारी बात का भरोसा नहीं किया? गिरने वाली बात को भी झूठ ही समझा, क्यों?'

'भरोसा तो कर लेते, परन्तु कपड़े इस तरह फट गये थे कि कोई तरकीब ही काम न आई! इसीलिए तो इस क़दर धुलाई उड़ी है!'

सेरेज़ा ने बड़े ही गर्व से कहा: 'हमारे घर में तो ऐसा नहीं होता। कपड़े फटे हों या न फटे हों, सच-सच कह देने पर आधा गुनाह उसी वक्त माफ़ हो जाता है।'

इस घटना ने मेरे पड़ौसी को सोचने के लिए विवश किया। वह बोला:

'सच कहने पर आधा गुनाह माफ़! नियम तो बड़ा अच्छा है, पर क्या आपने हमेशा इस नियम का पालन किया है?'

'निस्सन्देह।' मैंने तपाक-से उत्तर दिया।

उसने लम्बी सांस भरकर सिर हिलाते हुए कहा: 'यही तो बात है। हम ऐसा नहीं करते! तभी बच्चे झूठ बोलते हैं।'

सम्भवत: उसने सच ही कहा था। माता-पिताओं द्वारा एकाधिक बार इस तरह के प्रश्न सुनकर मेरा विश्वास दृढ़ हो चला था कि कई माता-पिता असम्भव को सम्भव करना चाहते थे। जिन सद्गुणों का स्वयं उनमें अभाव होता है उन्हींको अपने बच्चों में देखना चाहते हैं।

परन्तु कुछ समस्याएँ ऐसी भी थीं, जो मुझे निरुत्तर कर देती थीं। उदाहरण के लिए निम्न प्रश्न जो अल्मा-अता की एक माता ने पूछा था:

'आप अपने बालकों की राजनैतिक शिक्षा कब शुरू करती हैं? मुझे हमेशा डर लगा रहता है कि कहीं ठीक समय चूक न जाऊँ। कृपया लिखिये कि आप किस उम्र में शुरू करती हैं?'

पढ़कर मुझे हँसी आगई। उस बेचारी का खयाल था कि मैं अपने बच्चों को, जिनमें सबसे बड़ा बीस साल का और सबसे छोटा चौदह का भी न था, इकट्ठा कर भाषण देती हूँगी कि 'साथियो! आज हम इस राजनैतिक समस्या पर चर्चा करनेवाले हैं'; या ऐसा ही कुछ करती हूँगी।

परन्तु मैं ऐसा तो कभी नहीं करती थी। अपने बच्चों को कभी राज-नैतिक विज्ञान की किताबी पढ़ाई नहीं पढ़ाती थी। हाँ, हर सोवियत माता की तरह मैं भी अपने बच्चों के दिलों में देश भक्ति और पार्टी के प्रति निष्ठा के भाव जागृत करती थी। परन्तु यह सब बेमौके से नहीं किया जाता था। उचित अवसर देखकर ही मैं वैसा करती थी। एक बार की बात है। डेविड इवानोविच और सेरेज़ा शिकार से लौटे थे। उन्हें उस बार काफी सफलता मिली थी। मैंने विनोदपूर्वक कहा: 'यदि वोरोशिलोव शार्प शूटर्स (सोवियत देश की एक सार्वजनिक शिकारी संस्था) के सदस्यों की भर्ती शिकार किये गये खरहों की संख्या पर निर्भर करे तो आप लोग दूसरी श्रेणी के सदस्यों में तो आ ही जाएँगे।' यह सुनकर मेरे पति और पुत्र के मन में शिकारी संस्था को अपनी सफलताओं से सूचित करते रहने की बात उदित हुई।

मेरे पति ने कहा था: 'सच तो है, शिकार को निरर्थक क्यों जाने दिया जाय?'

लड़कियों और बच्चों की दिलचस्पी भी बढ़ी और लड़कियों ने भी अपनी चाँदमारी के परिणामों को चांदमारी की स्थानीय संस्था के नाम भेजना शुरू कर दिया। उस अवसर को उपयुक्त जान मैंने छोटे बच्चों को लाल सेना के सम्बन्ध में बतलाया।

एक बार निम्नलिखित घटना घटी। मैं पहली बार वास्या को मास्को सब-वे (जमीन के नीचे चलने वाली रेलगाड़ी) की सैर कराने ले गई थी। वहाँ से हम सुप्रसिद्ध सांस्कृतिक उद्यान में जाने के लिए एक मण्डप में होकर निकले। इस मण्डप में स्तालिन की एक आदमक़द तस्वीर रखी है, और जब सीढ़ियाँ उतरते हैं तो ऐसा लगता है मानों वह तस्वीर सामने चली आरही हो। वास्या ने अपने जीवनकाल में इतनी बड़ी तस्वीर उस-दिन पहले ही पहल देखी थी। वह प्रसन्न होकर अपने हाथ हिलाता हुआ चिल्ला पड़ा:

'कहिये ! कहिये, महाशय ?'

यह सुनकर आस-पास के सब लोग खिल-खिला पड़े । परन्तु मैंने उस अवसर को योंही गँवा देना उचित न समझ मैंने बच्चे को स्तालिन के सम्बन्ध में कई बातें बता दीं । घर लौट आकर शाम को वास्या ने वाल्या को सुनाया:

'और उन्होंने लोगों से कहा कि चलनेवाली सीढ़ियाँ और रेलगाड़ियाँ और मकान बनाओ ।'

इतनी छोटी उम्र में, निश्चय ही, वह कामरेड स्तालिन के व्यक्तित्व को आत्मसात् नहीं कर सकता था; परन्तु बीज पड़ चुके थे और मेरा दृढ़ विश्वास था कि वे एक दिन अंकुरित होकर ही रहेंगे ।

मैंने वे सब बातें अल्मा-अतावाली बहिन को लिखकर समझाने का प्रयत्न किया, लेकिन वास्तविकता और उनके वर्णन में बड़ा अन्तर होता है । खुद अनुभव करने में जो ताज़गी होती है वह लिखने में कभी आ ही नहीं सकती ।

लगे हाथों यहाँ यह भी बतला दूँ कि मेरे पति को मेरा वह लम्बा-चौड़ा पत्र-व्यवहार तनिक भी नहीं सुहाता था । जब कभी वह मुझे व्यस्त भाव से मेज़ के आगे बैठकर शिशु-संगोपन और बाल-शिक्षा-सम्बन्धी विभिन्न प्रश्नों का उत्तर देते हुए देखते तो मज़ाक उड़ाना शुरू कर देते थे:

'मैंने कहा, नमस्ते, बाल-मनोविज्ञान के ज्ञान की पिटारी देवी, नमस्ते !'

परन्तु मैंने अपने लम्बे जीवन में जो कुछ सीखा और प्राप्त किया था वह सब दूसरी माताओं को देने के लिए बड़ी ही लालायित रहती थी ।

फिर एक दिन मुझसे अपने बच्चों के पालन-पोषण के सम्बन्ध में रेडियो पर भाषण देने के लिए कहा गया । पहले तो मैं डर गई । सार्व-

जनिक सभाओं में भाषण करने से मैं हमेशा भय खाती थी । लेकिन अन्त में मुझे यह कहकर राजी किया गया कि मेरे सामने जनता न रहेगी, सिर्फ अकेले एक कमरे में मैं रहूँगी और माइक्रोफ़ोन रहेगा, और मुझे अपना लिखित भाषण पढ़ना होगा । मैंने स्वीकार कर लिया ।

उस रेडियो भाषण के बाद से मेरे जीवन का नया अध्याय प्रारम्भ होता है ।

सातवाँ परिच्छेद

उन दिनों अखबारों में 'इँजीनियर और टेक्नीशियन-यूनियन' के सदस्यों की पत्नियों द्वारा किये जाने वाले समाज-हित के कामों की बड़ी धूम थी। वह आन्दोलन हाल में ही शुरू किया गया था। मैं अखबारों में पढ़ती थी कि उन महिलाओं ने जहाँ पहले धूल उड़ती थी वहाँ खाना खाने के लिए होटल जैसी सुविधाएँ प्रस्तुत कर दी थीं। और अब वे खटमल-मच्छरों से भरी बेडौल बारकों को सुन्दर, स्वच्छ और सुखद विश्रान्तिगृहों में परिवर्तित कर रही थीं; तो कहीं कारखानों के अहातों में बग़ीचे लगा रही थीं, तो कहीं सार्वजनिक शिशु-गृहों, किण्डरगार्टनों और पायोनियर संस्थाओं का प्रबन्ध कर रही थीं। मैं इन समाचारों को बड़े ही संभ्रम के भाव से पढ़ती थी और उन महिलाओं को बड़ी ही आदर की दृष्टि से देखती थी। परन्तु क्षणभर के लिए भी यह विचार मेरे मन में नहीं आता था कि उस आन्दोलन से मेरा भी कुछ सम्बन्ध हो सकता है।

तभी, रेडियो भाषण के बाद, 'ग्लावमुका' की 'इँजीनीयर और टेक्नीशियन यूनियन' की महिला सभा ने मुझे एक पत्र लिखकर बड़ी ही विनम्रतापूर्वक इस बात की याद दिलाई थी कि मैं भी एक इंजीनियर की पत्नी हूँ और इस नाते मुझे भी...

महिला सभा की पहली ही बैठक में मुझे एक किण्डरगार्टन का निरीक्षण करने का काम सौंपा गया।

मैं तत्काल काम में लग गई ।

मैं हर दूसरे दिन किंडरगार्टेन जाती थी । भोजन की जांच-पड़ताल करती थी । बच्चों के कपड़े बदलने में परिचारिकाओं की सहायता करती थी । बच्चों को घुमाने ले जाती थी । किंडरगार्टेन के बाल-अभिनयगृह में अपनी लिखी नाटिकाओं के खेले जाने का प्रबन्ध करती थी । परन्तु यह काम मेरा समाधान नहीं कर पाता था । लगता था कि कोई खास काम नहीं हो रहा है । एक दिन क्रेमलिन में महिला सभा की सदस्याओं का सम्मेलन हुआ । मैं भी एक सदस्य के नाते निमन्त्रित होकर वहाँ गई । एक बड़े शानदार हाल में, मंच पर मैंने अपने देश के सर्वश्रेष्ठ लोगों को बैठे देखा । कामरेड ओरज़ोनिकिज़ का प्रेरणात्मक भाषण भी सुना । फिर भी मुझे यही लग रहा था कि वहाँ होने का मुझे कोई अधिकार नहीं है ।

मेरा मन कह रहा था कि ग्लावसुका के स्वस्थ और सुखी बच्चों को मेरी कोई आवश्यकता नहीं । उनकी खोज-खबर लेने के लिए वत्सल माता-पिताओं और सुयोग्य शिक्षकों की कमी नहीं थी ।

मेरा मन तो उन परित्यक्त बालकों के लिए व्यथित होता रहता था, जो अकसर राह चलते सड़कों, दूकानों और स्टेशनों पर मिल जाया करते थे । मेरे विचार में जनता की सहायता और सहानुभूति की सब से अधिक आवश्यकता उन्हीं बच्चों को थी ।

एक बार मैंने जो दृश्य देखा उसकी छाप सदा के लिए मेरे हृदय-पटल पर अंकित हो चुकी थी ।

ट्राम में एक चोर बच्चा पकड़ा गया था ।

वह लड़का चीखें मार रहा था, हाथापाई कर रहा था और अपने पकड़नेवालों को बुरी तरह से नोच रहा था । किसी तरह वह उनकी पकड़ से निकलकर भाग जाना चाहता था । परन्तु लोगों ने उसे छोड़ा नहीं और पकड़कर सीधे पुलिस थाने ले गये ।

कारखाई में मेरी दिलचस्पी थी इसलिए मैं भी उनके साथ हो गई।

रास्ते में मेरी दृष्टि एक दूसरे लड़के पर पड़ गई जो दरवाजों की ओट छिपता-छिपाता, पहले लड़के के पकड़े जाने की जगह से हमारे पीछे लगा चला आ रहा था। उसकी उम्र और रङ्ग-ढङ्ग 'चोर-बच्चे' से मिलते-जुलते थे। थाने के द्वार पर हम दोनों ठिठक गये और एक दूसरे के सामने देखने लगे। अब उस लड़के को इसका निश्चय हो गया कि वहाँ से टलने का मेरा कोई इरादा नहीं है तो घृणापूर्वक नाक-भौंह सिकोड़कर वह स्वयं ही वहाँ से जाने लगा। तभी मैंने उससे एक प्रश्न किया:

'अपने दोस्त के लिए दुःख होता है?'

'क्या?'

'यह पूछ रही हूँ कि क्या तुम्हें अपने दोस्त के लिए दुःख नहीं होता?'

'कौन-सा दोस्त? मेरा कोई दोस्त नहीं है।'

'सच? ऐसी भी क्या बेरुखी? डरो मत, मैं तो सिर्फ एक राहगीर हूँ।'

'राहगीर हो तो अपनी राह क्यों नहीं जातीं?' इतना कहकर अपनी बात को ज़ोर देने के लिए उसने बड़े ही बेहूदे ढङ्ग से मुँह बनाया।

'चली ही जाऊँगी। सिर्फ यह बतलादो कि क्या तुम भी कभी पकड़े गये हो?'

वह मेरा स्वर सुनकर थोड़ा आश्वस्त हुआ और बोला: 'तुम कौन होती हो पूछनेवाली?'

'यों ही जानना चाहती हूँ।'

'जानना चाहती हो तो एक बार स्वयं करके देख न लो!' उसने बड़ी ही ढिठाई से उत्तर दिया।

लेकिन मैंने भी सहज ही उसका पीछा नहीं छोड़ा। बराबर कहती ही रही: 'थाने में बड़ी बुरी बीतती है। क्यों, बीतती है न?' छूटने के लिए

छीनाझपटी कर रहे उसके मित्र की तस्वीर मेरी आँखों के आगे नाच रही थी।

उस लड़के की आंखें फटी की फटी रह गईं। परन्तु दूसरे ही क्षण उसने कटुतापूर्वक खिल्ली-सी उड़ाते हुए कहा: 'बुरी बीतती है! क्या औरत है! सिर के बाल सफ़ेद होगये; परन्तु इतना भी नहीं जानती! जब तक जहाज़ में भरकर देनिलोवका नहीं भेज देते पुलिस थाने से कौन ससुरा डरता है?' यह कहकर वह वहां से चम्पत हो गया।

मैं भी उक्त घटना पर विचार करती वहां से आगे बढ़ी। 'चोर-बच्चे' थाने से इतना नहीं डरते थे; परन्तु देनिलोवका का नाम सुनते ही उनकी सिट्टी गुम होजाती थी। देनिलोवका वह वितरण केन्द्र है जहाँ से इन बाल-अपराधियों को एक खास ढङ्ग पर चलाये जानेवाले सुधार-घरों में या 'बस्तियों' में भेज दिया जाता था। अधिकांश बाल-अपराधियों की यही प्रतिक्रिया थी। वे पुलिस से इसीलिए भय खाते थे कि वह उन्हें देनिलो-वका भेजने की सामर्थ्य रखती थी और एक बार देनिलोवका जाने के बाद उनके भागने के सब रास्ते रुक जाते थे।

मैंने तेरह नम्बर के पुलिस थाने के बाल-विभाग में काम शुरू किया। वहाँ छोटी उम्र के बाल-अपराधी लाये जाते थे। इस काम के लिए कई महिला स्वयंसेविकाएँ नियुक्त थीं। हमारा काम था, दुकानों, सड़कों और अन्य सार्वजनिक स्थानों पर भटकते आवारा बच्चों को पकड़ना, उनके जीवन के सम्बन्ध में पता लगाना, यदि माता-पिता हों तो उनसे मिलना, कोर्ट की कारवाई में बारी-बारी से भाग लेना और अन्त में अपराधियों को किसी कारखाने या सुधार-घर में भर्ती करा देना।

जो माता-पिता अपने बच्चों की सार-सँभाल नहीं करना चाहते थे या नहीं कर पाते थे उन्हीं के बच्चे आवारा हो जाते थे। दूसरे वे बच्चे होते थे जो छुटपन में ही अनाथ हो जाने के कारण रिश्तेदारों के साथ रहने के लिए विवश थे। ये सम्बन्धी अपने 'पोष्य-पुत्रों' की ज़रा भी चिन्ता नहीं करते

थे। इस तरह के बच्चे जल्दी ही पढ़ाई-लिखाई को धता बतलाकर आवारों की टोली में सम्मिलित हो जाते थे। इन टोलियों का नेता हमेशा बड़ी उम्र का कोई बदमाश हुआ करता था। यह 'नेता' अपने चारों ओर चोर-बच्चों का एक छोटा-सा गिरोह बना लेता था। स्वयं कभी खुलकर बाहर नहीं आता था। अपने अधीनस्थों की चोरी पर गुलछर्रे उड़ाता था। चोर-बच्चे जो कुछ चुराकर लाते सब का सब उसके हवाले कर देते थे और वह कभी-कभार उन्हें चोरी के माल में से ज़रा-सा हिस्सा दे देता था। यों वह जिन पर खुश होता, उन्हें अपने हाथों से शराब की प्याली या सिगरेट देता और उनकी सुरक्षा का विशेष प्रबन्ध भी कर देता था।

सब बाल-अपराधियों की कहानियाँ लगभग एक-सी ही होती थीं। अन्तर केवल इतना रहता था कि कुछ को पकड़ कर लानेवाले वे कुपित नागरिक होते जिनकी जेबें कतरी जाती थीं; और कुछ को पकड़ कर लानेवाले स्वयं उनके 'अभिभावक' होते थे। अभिभावकों में सौतेले माँ-बाप, मौसियाँ, चाचियाँ, रिश्तेदार और कभी-कभी सगे माँ-बाप भी होते थे।

जब सगे माँ-बाप आते तो वे हमेशा यही कहते थे:

'यह जाने और तुम जानों, खुशी चाहे जो करो, हम तो हार गये इसके आगे !'

थाने के बाल-विभाग में मेरी उपस्थिति के पहले ही दिन की बात है। एक लम्बे-तड़ङ्गे, चिड़-चिड़े आदमी ने बड़े ही भद्दे ढंग से अदालत में प्रवेश किया ! वह एक सिसकते हुए गन्दे लड़के को हाथ पकड़कर खींच रहा था। मैंने लड़के को देखते ही पहिचान लिया। उस लड़के का नाम तोल्या पी० था। उसे वहाँ देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ।

तोल्या हमारी ही चाली में रहने वाली एक किरायेदारिन का बेटा था। उसकी माँ बड़े ही भले स्वभाव की परन्तु बड़ी ही दुखियारी औरत थी। उसके पति ने उसे तलाक दे दिया था। वह एक दुकान में किरानी

का काम करती थी। पति ने लड़के का खर्च देना अस्वीकार कर दिया था और उसे स्वयं अपने साथ लेता गया था। वह लड़का सिर्फ छुट्टियों के ही दिन अपनी मां से मिलने आ पाता था।

उसकी मां अकसर मेरे पास सलाह लेने आती थी। बाप शौफ़र था और लड़के को घर पर अकेला छोड़कर काम पर चला जाता था। इस तरह लड़का आवारा हुआ जा रहा था। लेकिन एक तो बाप के रहने की जगह और दूसरे उसकी आमदनी भी अच्छी थी इसलिए बेचारी मा का साहस कोर्ट में नालिश कर लड़के को अपने अधिकार में लेने का न होता था।

और अब बाप तोल्या को थाने में घसीट लाया था। सभी पिताओं की तरह उसने भी वही बात कही:

'यह जाने और तुम जानो। मैं तो समझ लूँगा कि आज से मर गया।'

कारण पूछने पर उसने हमें निम्न घटना कह सुनाई:

कोई आध घण्टे पहले तोल्या के पिता ने उसे पड़ौस के एक आँगन में खड़ा पाया। लड़के के हाथ में एक ऊनी टोपी थी और उधर फाटक पर एक नन्हीं बालिका फूट-फूट कर रो रही थी। पूछने पर उसने बतलाया कि कोई उसकी नयी टोपी लेकर चम्पत हो गया है।

बाप तोल्या को पकड़कर लड़की के पास ले गया और पूछा, 'यह तो नहीं था।' उसने टोपी छिपा ली थी।

लड़की ने उस चौदह वर्षीय किशोर की ओर एक दृष्टि डालकर सिर-हिला दिया: 'नहीं, इसे तो मैंने देखा भी नहीं।'

तोल्या के जी में जी आया और वह कहने लगा: 'मैं तो यहाँ था भी नहीं, सच कसम से।'

उसके बाप ने गरजकर कहा: 'चुप रहो' फिर लड़की को टोपी दिखला कर पूछा: 'और यह किस की है?'

लड़की मारे खुशी के नाच उठी ।

'मेरी है, मेरी ! यही तो मेरी टोपी है !'

दूसरे ही क्षण तोल्या का बाप लात-घूँसों से उसकी मरम्मत करने और बीच-बीच में गरजने लगा :

'कमीने ! बेईमान ! हरामज़ादे !'

थाने पर तोल्या से पूछताछ की गई । प्रश्न पूछने का ढंग बड़ा ही संयत पर दृढ़ता लिये हुए था । उसने सभी अभियोगों से इन्कार किया, जैसा कि आमतौर पर ऐसी परिस्थितियों में बच्चे करते ही हैं । उसके कथनानुसार टोपी उसे आँगन में पड़ी मिली, वह आते-जातों से उसके सम्बन्ध में पूछ-ताछ करने जा ही रहा था कि उसका पिता आ पहुँचा । उसने सबसे अधिक इस बात पर ज़ोर दिया कि लड़की ने उसे देखा तक नहीं था ! फिर भला वह उसके सिर से टोपी उड़ा ही कैसे सकता था !

उस समय मैं इन मामलों में अभी नयी ही थी, इसलिए तोल्या की बात को सच मानने के लिए राज़ी हो गई । उसने जो कुछ कहा वह सब युक्ति-संगत और विश्वसनीय मालूम पड़ता था । परन्तु जो दूसरे अनुभवी साथी वहाँ थे उन्होंने झट से तोल्या की तलाशी ली और लम्बी रस्सी में बँधा मछली फँसाने का एक काँटा उसकी जेब से बरामद किया । इस काँटे की खूबी यह थी कि आदमी चोर को देख नहीं पाता था और चोर सफ़ा बच जाता था । बच्चों के लिए खेल का खेल हो जाता और मुफ्त में माल भी हाथ लग जाता था । परन्तु बिना हाथ की सफ़ाई के काँटे का उपयोग करना असंभव ही लगता था । उसके लिए असाधारण रूप से कुशल होने की आवश्यकता थी ।

जब बुरी तरह फँस गया तो तोल्या ने सब कुछ स्वीकार कर लिया और अपने गन्दे चेहरे पर आंसुओं की धाराएँ बहाता हुआ चिरौरी करने लगा : 'अब कभी नहीं करूँगा । मुझे देनिलोवका मत भेजो ।'

मुझे उसकी माँ का खयाल हो आया। अपने बेटे को सुधार-घर भेजे जाने की खबर सुनकर वह कितना रोयेगी ! मैंने उसे छोड़ दिया।

लेकिन वैसा करना ग़लत था।

थोड़े दिनों बाद वह अपनी माँ से मिलने आया और पास ही रहने-वाले अपने एक मित्र के यहाँ जाने की अनुमति माँगी। उसी रात मुझे थाने से बुलावा आया।

'क्या आपने ही उसे रिहा किया था?' पुलिस अफ़सर ने बड़ी ही रुखाई से पूछा।

अनायास ही मेरे मुँह से निकल पड़ा! 'क्या तोल्या फिर पकड़ गया है?'

अपने मित्र के यहाँ से मेज़ की दराज़ में रखे चालीस रूबल उसने उड़ा लिये थे। इस बार थाने के बाल-विभाग ने उसे दो साल की सजा सुना दी और वह सुधार-घर भेज दिया गया।

कोई छह महीने बाद, एक दिन उसकी माँ रोती-झींकती मेरे पास आई। तोल्या सुधार-घर से फरार हो गया था। सर्दियों के दिन थे और कहीं उसका पता नहीं चल रहा था।

बेचारी माँ छाती पीटने लगी: 'वह मर जायेगा, सर्दी में ठिठुरकर ठण्डा हो जायेगा।'

मैंने जिस तरह बन पड़ा समझा-बुझाकर और दिलासा देकर उसे विदा किया:

'फिकर मत करो, तुम्हारे लड़के का शीघ्र ही पता लग जायगा।'

और, सच ही, कोई महीने भर बाद उसे दूसरे सुधार-घर से तोल्या की चिट्ठी मिली। उसने कुछ रुपया और सिगारेट या तम्बाकू मँगाई थी। मैंने उसे बहुतेरा समझाया कि कुछ न भेजे, परन्तु वह न मानी; और

थोड़े दिनों बाद फिर आँसू ढारती हुई मेरे पास आई। जैसा कि पता चला, रुपए और तम्बाकू एक वय:प्राप्त बदमाश के लिए थी, जिसका पेशा बच्चों को जेल से भागने में मदद करना था। वह आदमी पकड़ लिया गया, लेकिन इसी बीच तोल्या फिर फरार हो गया था। मैंने फिर उसकी माँ को दिलासा दिया और हम घण्टों बैठीं आपस में चर्चा करती रहीं कि आखिर उसकी अपराधी मनोवृत्ति के लिए किसे जिम्मेदार ठहराया जाय!

उक्त घटना को तीन महीने हो गये, परन्तु तोल्या का कोई पता न चला। मैंने मास्को की पुलिस के ज़रिये उसका पता लगाने की काफ़ी कोशिश की, परन्तु कोई सफलता न मिली। मेरा भी यह विश्वास हो चला था कि वह मर गया होगा; कि ठीक उसी समय उसका पत्र आया। लिखा था :

'अम्माँ, मैं फिर पकड़ गया हूँ। इस बार बड़ी ही अच्छी जगह भेजा गया हूँ और मिस्त्री का काम सीख रहा हूँ।'

सारी चिट्ठी से उसकी खुशी टपकी पड़ रही थी। मगर 'पुनश्च' करके वही पुरानी बात लिखी थी: 'कुछ रुपए, सिगरेट और अचार भेजना।'

इस बार फिर मैंने उसकी माँ को सलाह दी: 'अचार भले ही भेज दो, परन्तु रुपए और सिगरेट भूल कर भी मत भेजना।'

इस बार उसने मेरी सलाह मान ली। मैंने तोल्या का पता लिख लिया और सुधार-घर के पते पर दो चिट्ठियाँ लिखीं। एक सुधार-घर के अध्यक्ष के और दूसरी तोल्या के नाम। अध्यक्ष को लिखा था कि तोल्या की प्रगति से सूचित करते रहना।

तोल्या अब पन्द्रह साल का हुआ था। सोवियत देश के नियम के अनुसार शीघ्र ही उसे पासपोर्ट मिलनेवाला था। मैंने तोल्या के पत्र में इसी पासपोर्ट के सम्बन्ध में लिखा था।

'अभी तक तो तुम एक ग़ैर ज़िम्मेवार बच्चे की तरह अपने नाम को कलंकित करते रहे। लेकिन अब तुम बड़े हुए। शीघ्र ही तुम्हें तुम्हारा पासपोर्ट मिलनेवाला है। पासपोर्ट कोई मामूली चीज़ नहीं होती। इतना समझ लो कि उसका बड़ा महत्त्व है। क्या तुम अपने पासपोर्ट को भी गन्दा करना चाहते हो?

'तुम्हें पढ़ना आता है। मायकोवस्की (सोवियत का महाकवि) के कविता-संग्रह में उसकी कविता 'मेरा सोवियत पासपोर्ट' पढ़ देखना। फिर तुम्हीं सोचना कि यदि मायकोवस्की जैसा महाकवि भी सोवियत पासपोर्ट का इतना सम्मान करता था तो हम साधारण व्यक्तियों को उसका कितना अधिक सम्मान करना चाहिये?

'मैं तुम्हें एक दूसरे व्यक्ति के सम्बन्ध में भी बतलाती हूँ। तुमने कामरेड दिमित्रोव का नाम तो सुना ही होगा! न सुना हो तो उनका जीवन-चारित्र पढ़ना। वह बड़े ही असाधारण क्रान्तिकारी हैं। डर तो जानते ही नहीं। सही माने में वीर पुरुष हैं। परन्तु सोवियत के नागरिक बनने से पहले उन्हें बड़ी ही भीषण यातनाएँ भुगतना पड़ीं। अब तुम्हीं सोचना कि सोवियत पासपोर्ट का क्या अर्थ होता है और उसका कितना सम्मान करना चाहिये!'

मैं उत्सुकतापूर्वक तोल्या के उत्तर की प्रतीक्षा करने लगी।

उन्हीं दिनों कवि माकारेंको की सुप्रसिद्ध 'शिक्षक-सम्बन्धी कविता' प्रकाशित हुई थी। मैं उस कविता को पढ़कर आन्दोलित हो उठी थी और सोचा करती थी कि तोल्यावाले प्रसङ्ग में स्वयं माकारेंको कैसा व्यवहार करते?

मेरे पत्र का कोई उत्तर नहीं आया। वैसा पत्र लिखने के लिए मैं मन ही मन बड़ी लज्जित भी हुई। निश्चय ही तोल्या ने मेरी सीख की खिल्ली उड़ाई होगी।

मैं उत्तर की आशा छोड़ ही बैठी थी कि मुझे 'सुधार-घर' के अध्यक्ष का पत्र मिला। लिखा था :

'तोल्या के व्यवहार और चाल-चलन में आशातीत उन्नति हुई है। वह परिश्रमपूर्वक पढ़ता और मन लगाकर काम करता है। आपके पत्र की उस पर अमिट छाप पड़ी है। कृपया उसे पत्र लिखती रहिएगा। वह उत्तर न दे तो भी बुरा मानने की आवश्यकता नहीं है।

'उसे बड़ी ही शरम आती है। पहले कई बार वादे तोड़ चुकने के कारण अब वह नये सिरे से कोई वादा नहीं करना चाहता। डरता है कि आप विश्वास नहीं करेंगी। 'अब तो करके ही दिखलाऊँगा'—यह है उसका कहना। आप के पत्र को आँखों की पुतलियों की तरह सँभालकर रखता है और बार-बार पढ़ा करता है। मेरा विश्वास है कि वह बड़ा ही कुशल कारीगर बनेगा।'

सुधार-घर के अध्यक्ष की भविष्यवाणी सही साबित हुई। तोल्या को छूटे काफी वक्त हो गया। उसे उसका पास-पोर्ट भी मिल गया। इन दिनों वह एक कारखाने में काम कर रहा है।

तोल्या के किस्से को मैंने यहाँ इतने विस्तार में इसलिए लिखा है कि थाने के बाल-विभाग में मेरे सामने जितने मामले आये उन सब में यह अपने ढंग का एक ही है।

लेकिन अधिकाँश में हमारा काम थाने के बाल-विभाग के बिना ही चल जाता था।

एक बार मैं एक गली से गुजर रही थी कि पांच बरस का एक लड़का मेरे पास आया और बोला :

'बीबीजी, यह खरीदेंगी?'

उसने मुझे चाँदी का एक छोटा-सा लटकन (झुमना) दिखलाया।

मैंने हँसी रोक कर पूछा:

'बोलो, क्या लोगे ?'

'एक रूबल और कुछ कोपेक ।'

'देखूँ ज़रा !'

मैंने हाथ में लेकर उसे देखा और पूछा:

'तुम्हें बेचने के लिए किसने दिया है, तुम्हारी माँ ने ?'

'माँ ने नहीं, ओलेग ने दिया है !'

'यह ओलेग कहाँ रहता है ?'

'आइये, तो बतलाऊँ ?'

एक दालान पार कर वह मुझे एक मकान के सामने ले आया ।

'यहाँ ।'

मैंने घण्टी बजाई ।

'क्या ओलेग यहीं रहता है ?'

'जी हाँ, मैं उसका पिता हूँ । कहिये, क्या बात है ?'

वह अधेड़ आदमी था । इस समय उसका मनोहर चेहरा आश्चर्य-चकित हो रहा था । उसके पीछे-पीछे एक दुबली-पतली औरत आई, जो बूढ़ी हो चली थी ।

मैंने झुमना दिखलाकर पूछा: 'क्या यह आपका है ?'

उसे देखकर औरत के पाँव तले की धरती खिसक गई । वह घबरा उठी और अन्दर की तरफ़ मुँह करके किसी को ज़ोर-ज़ोर से झिड़कने लगी: 'ओलेग, तूने अभी तक नहीं लौटाया ? मैंने कहा नहीं था...'

शीघ्र ही सारी बातें मालूम हो गईं । ओलेग उनका दस वरस का लड़का था । वह अपने मित्रों के यहाँ खेलने गया हुआ था । खेल-खेल

में झुमना उसकी जेब में पहुँच गया और उसे खयाल ही न रहा। घर लौटकर जब माँ ने कपड़े बदले तो झुमना निकला। माँ ने फटकार सुनाई और आदेश दिया: 'जा, अभी लौटा कर आ।' ओलेग घर से निकला और सोचने लगा, वे लोग समझेंगे कि मैं जान-बूझकर चुरा ले गया था, झुमना लौटाने की उसकी हिम्मत न पड़ी। लेकिन उससे पीछा छुड़ाना भी आवश्यक था। अन्त में उसने झुमने को बेचना तै किया; परन्तु खुद में साहस न होने के कारण दरबान के पंच-वर्षीय बालक को मिठाई का लालच देकर बेचने के लिए भेज दिया।

मैंने ओलेग को तो बाहर दालान में भिजवा दिया और उसके माँ-बाप से बातें कीं। वे बड़े ही भले लोग थे। बाप मिस्त्री था और माँ घर का काम-काज करती थी। ओलेग उनका एकाकी पुत्र था, जिसे वे बहुत प्यार करते थे। वे अपने बेटे की सभी माँगों को पूरा करते थे। ओलेग भी सुशील लड़का था। पढ़ने में भी तेज़ था और अभी तक उसने ऐसा कोई बुरा काम नहीं किया था। वह संगीत का बड़ा शौकीन था। उसके संगीत-शिक्षक के कथनानुसार वह संगीत का पारखी भी था। उसकी एकान्त अभिलाषा अपना निज का 'एकारडियन' (हार्मोनियम से मिलता-जुलता) बाजा लेने की थी। लेकिन बाजा खरीद देने की हैसियत बेचारे बाप की थी नहीं।

इतनी जानकारी प्राप्त करने के बाद हमने ओलेग को बुलाया। वह थर-थर काँप रहा था।

उसकी माँ ने उसे घुड़कते हुए कहा: 'अरे अभागे, तूने हमें बैठे-ठाले किस मुसीबत में फँसा दिया!' मारे उत्तेजना के उस औरत के ओठ काँपने लगे थे।

लड़के ने अपना सिर झुका लिया। बाप कपाल में सल डाले चुप बैठा रहा। उसने लड़के से कुछ न कहा।

मैंने ओलेग से कहा: 'बीती ताहि बिसारि दे, अब आगे की सुधि लेय। मतलब की बात करें। अच्छा, बतलाओ, क्या तुम हारमोनियम सीखना चाहते हो?'

ओलेग ने अधीर होकर मेरी ओर देखा। मानों कह रहा था: 'झाँसा तो नहीं दे रही हो?'

'बोलता क्यों नहीं? गूँगा हो गया है क्या? जबान तालू से सटा ली है, बेचारे ने!' उसकी माँ ने फटकार सुनाई।

'उसे डाँटो मत। जल्दी करने की भी वैसी कोई ज़रूरत नहीं है। उसे अच्छी तरह सोच-विचार कर लेने दो। फिर कल शाम को पाँच बजे आकर वह मुझे अपना निर्णय सुना सकता है। मैं अपना पता छोड़े जाती हूँ। इस बीच मैं प्रबन्ध भी कर लूँगी।'

दूसरे दिन ठीक समय पर ओलेग मुझसे मिलने आया। पहला काम तो मैंने यह किया कि उसे मदरसे में भर्ती करवा दिया। फिर रेडियो से सम्बन्धित बच्चों की एक संगीत मण्डली में उसका नाम लिखा दिया। आज दिन तक वह उस संगीत मण्डली में काम कर रहा है। हारमोनियम बजाने में बड़ा कुशल हो गया है और हमारे परिवार का तो बड़ा ही अच्छा मित्र है।

अगर सब घटनाओं को लिखने बैठूँ तो कई पोथे हो जायेंगे। मगर फिर भी एक घटना का वर्णन करने का लोभ संवरण नहीं कर सकती। क्योंकि उस घटना का हमारे परिवार के साथ भी गहरा सम्बन्ध है।

१६३६ की वसन्त ऋतु की बात है। अब तक मैं थाने के काम में सिद्ध-हस्त हो गई थी। प्रसंग तो याद नहीं रहा, परन्तु उस दिन हम स्वयं-सेविकाओं की कान्फरेन्स थी। सभा का काम अभी शुरू ही हुआ था कि एक औरत धड़धड़ाती हुई कमरे के अन्दर चली आई। वह बड़ी ही उत्तेजित हो रही थी।

'बच्चों को कहाँ दाखिल किया जाता है?'

'क्या बात है?'

'बच्चों को कहाँ दाखिल किया जाता है?' उसने अपनी बात दुहराई और नौ-एक साल के एक गोरे-चिट्टे लड़के को धक्का देकर हमारे आगे कर दिया। लड़के की कनपटी पर घाव लगा था और चेहरा खून से सन गया था।

लड़के का नाम वोवा पोनारिन था और उसे लाने वाली औरत लड़के की पड़ौसिन थी। माँ लड़के को अकसर पींटा करती थी और खाने को भी कुछ नहीं देती थी। वह और उसका पति दोनों ही पक्के शराबी थे। अकसर दोनों को शराब के कारण नौकरी से हाथ धोना पड़ता था। वोवा को अपनी माँ के साथ रहते एक साल भी नहीं हुआ था। इससे पहले वह देहात में अपने नाना के पास था। बचपन से वहीं रहा था। अब नाना बूढ़ा हो गया था और लड़के का भरण-पोषण उसके बस का नहीं रह गया था, इसलिए वह अपने धेवते को मास्को लाकर अपनी चिड़चिड़ी लड़की के पास छोड़ गया था। वोवा जब से मास्को आया बेचारे की मुसीबत के दिन शुरू हो गये थे। यों वह बड़ा ही कुशाग्र बुद्धि और सुशील लड़का था। कायदे से उसे तीसरे दर्जे में होना चाहिये था। परन्तु अभी तक बेचारे के लिए काला अक्षर भैंस बराबर था।

पड़ौसियों ने वोवा की माँ को कई बार पुलिस में रिपोर्ट करने की धमकियाँ दी थीं, परन्तु उस पर कोई असर नहीं हुआ। हर बार उसने एक ही जवाब दिया: 'पुलिस मेरा क्या उखाड़ लेगी!' उस दिन उसने वोवा को मारते-मारते अधमरा ही कर दिया था। फिर बेचारे को भूखा-प्यासा छोड़ आप घर से निकल गई तो शाम तक लौट कर नहीं आई थी। अन्त में पड़ौसिन उसे थाने पर ले आई थी।

हमने वोवा का नाम और पता, उसकी माँ का नाम और उसे लाने वाली पड़ौसिन का नाम और पता लिख लिया। पड़ौसिन को तो हमने

जाने दिया, परन्तु वोवा को वहीं रख लिया। अब सवाल यह था कि उसका क्या किया जाय? घर भेजने का तो सवाल ही नहीं उठता था। फिर क्या करते? देनिलोवका भेज देते? वोवा ने देनिलोवका का नाम भी नहीं सुना था इसलिए उस सम्बन्ध में उसने कुछ नहीं कहा। परन्तु हम ही उसे वहाँ भेजने को राज़ी नहीं थीं। जैसा कि पड़ौसिन ने बतलाया था, वोवा बड़ा ही सुशील लड़का था और अभी तक आवारा लड़कों की किसी टोली के सम्पर्क में नहीं आया था। देनिलोवका में वह निश्चय ही 'चोर-बच्चों' के चक्कर में फँस जाता और 'उठाईगिरे का धन्धा अपना लेता। वहाँ के बुरे वातावरण से उसे बचाना असम्भव नहीं तो मुश्किल अवश्य था। फिर क्या करते? अनाथालय भेज देते? हाँ, वही एक रास्ता खुला था। परन्तु उससे पहले अदालती काररवाई कर उसकी माँ को उसके अभिभावकत्व और माँ होने के अधिकार से वंचित करना आवश्यक था। अन्यथा वोवा अनाथालय में भर्ती न किया जाता।

परन्तु तबतक के लिए क्या करते?

काफी सोच-विचार के बाद हम इस निर्णय पर पहुँचीं कि हममें से कोई एक वोवा को अपने घर ले जाय। अब सवाल यह उठा कि किसके घर उसे भेजा जाय? एकने कहा कि 'मेरे पति थके-माँदे घर लौटते हैं।' दूसरी ने कहा: 'मेरे एक लड़का है और इसकी सोहबत में बुरे लच्छन सीखेगा।' तीसरी ने कहा: 'मेरे एक ही कमरा है और बड़ा-सा परिवार है। ले तो जाती, परन्तु इसे रखूँगी कहाँ?' अन्त में वोवा को ले जाना मेरे ही हिस्से आया।

जब मैं घर पहुँची रात के दस बज गये थे।

डेविड इवानोविच कौच पर बैठे झपकियाँ ले रहे थे और दोनों छोटे बच्चे सोने की तैयारी कर रहे थे।

मैंने कहा: 'डेविड, सुनते हो! तुम्हारे लिए छठवाँ बच्चा लाई हूँ।'

मेरे पति छोटे बच्चों की तरह उछल पड़े और मेरी ओर बड़ी ही विस्मित दृष्टि से देखने लगे ।

'अच्छा है...अच्छा है !' वह सिर्फ इतना ही कह सके ।

ज़ेनिया और लेना मुँह बाये वोवा की ओर ताकने लगीं । बाल्या और वास्या जहाँ के तहाँ खड़े रह गये ।

मैंने मुस्करा कर कहा: 'यों खड़े क्या हो ? आओ, एक दूसरे से पहचान करो । यह है वोवा पोनारिन । ज़ेनिच्का, तुम इसके लिए कुछ खाने का प्रबन्ध करो । और लेना, तुम इसे नहलाने-धुलाने में सहायता करो । हमें इसकी चोटों के लिए पुल्टिस भी तो बनाना होगी ।'

दोनों बहिनें उसे लेकर अन्दर चली गईं ।

'अच्छा, तुम दोनो सो जाओ ।' फिर अपने पति की ओर मुड़कर मैंने जर्मन भाषा में, क्योंकि दोनों बच्चे अभी उसे समझते नहीं थे, वोवा का सारा क़िस्सा कह सुनाया ।

सुनने के बाद मेरे पति गम्भीरता से विचार करते रहे और फिर बोले: 'क्या तुम निश्चय से कह सकती हो कि कोर्ट माँ से बच्चे को ले लेगी ?'

'अवश्यमेव ।'

'ऐसे लोगों को तो गोली मार देना चाहिये ।' मेरे पति के मुँह से बात निकली ही थी कि बच्चे अन्दर आये और बात अधूरी रह गई ।

नहा-धोकर, चुटले चेहरे के बावजूद भी, वोवा बड़ा सुन्दर और दिखनौटा जँच रहा था । उसके प्रशस्त कपाल पर सुनहरे बालों की लटें गिर रही थीं और उसकी बड़ी-बड़ी, चमकीली नीली आँखों से बाल सुलभ निर्दोषिता झलक रही थी ।

दूसरे दिन वोवा की माँ थाने में तलब की गई । वहाँ स्वयं मैंने ही उससे बातें कीं ।

वह तो छूटते ही चीखने लगी : 'मैं उसे लेकर क्या करूँ ? मैं तो खुले-खजाने कहती हूँ कि हाँ, मैं उसे मारती हूँ और आगे भी मारती रहूँगी। यदि तुमने उसे वापिस कर दिया तो मारते-मारते उसकी जान ही ले लूँगी।'

मामला अदालत के सिपुर्द कर दिया गया।

इस बीच वोवा हमारे साथ ही रहता रहा। मेरे दूसरे बच्चों में और उसमें जमीन-आसमान का अन्तर था। वह भीरु, अविश्वासी और स्वार्थी था। खाने-पीने की अच्छी चीज़ देखते ही उसे 'गड़पने' का प्रयत्न करता था। बच्चों की भावनाओं को आघात पहुँचाने में भी कोई आगा-पीछा नहीं देखता था। फायदा होते देखता तो झूठ बोलने से भी बाज नहीं आता था। मैं जानती थी कि उसका ऐसा स्वभाव उसके कठोर भूतकाल का ही अवश्यम्भावी परिणाम है। परन्तु साथ ही मैं अपने छोटे बच्चों को लेकर चिन्तित भी हो उठती थी। वोवा के ऐसे व्यवहार का उन पर बुरा प्रभाव भी तो पड़ सकता था।

वोवा के हमारे घर आने के कोई डेढ़ महिने बाद अदालत में उसकी माँ पर मुकदमा चला। जैसा कि हमारा खयाल था, वह अपने अधिकारों से हमेशा के लिए वंचित कर दी गई। अदालत ने वोवा को बच्चा-घर (अनाथालय) भेजने का फैसला किया।

यह काम मुझे सौंपा गया; परन्तु मई दिवस की छुट्टियाँ आ लगी थीं और सदा की भाँति उस वर्ष भी हमने वे छुट्टियाँ कतुआर में बिताने का निश्चय किया था।

देहात में जाते ही ऐसा लगा मानों गर्मी शुरू हो गई है।

'अरे, तुम्हारे यहाँ तो गाय भी है और घोड़ा भी है!' वोवा खुशी के मारे बावला होकर बगीचे में कूदने लगा था।

वह अपने नाना के पास गांव में ही छोटे से बड़ा हुआ था; और सम्भवतः मास्को जैसे विशाल शहर का जीवन उसकी प्रकृति से मेल नहीं

खाता था। मैंने सोचा कि ग्रीष्म के आरम्भ में ही उसे शहर के अनाथालय में भर्ती करा देना उसके साथ ज्यादती होगी। मैंने अपने पति से सलाह-मशिवरा किया। वह बोले:

'जो ठीक समझो करो।'

मैंने वोवा से पूछा: 'क्यों वोवा, हमारे साथ यहीं देहात में गर्मियां बिताओगे?'

'ज़रूर!'

उसका यह संक्षिप्त-सा उत्तर इस बात का द्योतक थ. कि वह धीरे-धीरे हमारे दृष्टि-कोण से सहमत होता जा रहा था। पहले का अविश्वास का भाव मिट रहा था। और वह आश्वस्त होता जा रहा था।

वोवा को पढ़ाने का काम ज़ेनिया ने अपने जिम्मे लिया। वह बड़ा ही कुशाग्र बुद्धि था और गुरु-शिष्य एक दूसरे से बड़े सन्तुष्ट जान पड़ते थे।

धीरे-धीरे वोवा हमारे पारिवारिक जीवन में घुल-मिल गया। उसके भी कुछ कर्त्तव्य निश्चित कर दिये गये थे। छज्जे में सर्जी का बढ़ईगिरी का सामान रखा था। वह वोवा के हवाले कर दिया गया और वोवा बड़े उत्साह से ठोका-पीटी, काटा-छांटी और रन्दा-रन्दी के काम में लग गया।

यह देख कर मुझे बड़ी खुशी हुई। वोवा के अनजाने ही मैंने और ज़ेनिया ने उसका अभ्यास क्रम निश्चित किया। हम चाहती थीं कि गर्मियों में वह पढ़ाई-लिखाई की सारी कसर पूरी कर ले ताकि स्कूल में, यदि तीसरे दर्जे में न सही तो, कम से कम, दूसरे दर्जे में तो भर्ती किया ही जा सके।

इस योजना पर ज़ेनिया ने बड़े ही दुःख के साथ कहा था: 'परन्तु अम्मां, वह तो दस बरस का हुआ। सोचो तो उसकी उमर के लड़के के लिए छोटे बच्चों के साथ बैठना कितना बेहूदा लगेगा?'

मेरी देख-रेख में उनकी पढ़ाई चलने लगी। थोड़े दिनों तक यही क्रम चलता रहा; और कोई विशेष बात नहीं हुई। मेरे पति छुट्टियों के दिन ही कतुआर आते थे। लेना भी अकसर शहर ही रहती थी। इसलिए कतुआर के घर की व्यवस्था अधिकांश में ज़ेनिया के ही जिम्मे रहती थी। रोज रात में, जब मैं शहर से लौटती तो वह मुझे दिन भर की घटनाएँ कह सुनाती थी।

एक दिन सवेरे जब मैं कलेवा करने बैठी तो घर में शक्कर नहीं थी। शाम को मेरे शहर से लौटने तक शक्कर का इन्तज़ार करना मुझे कुछ अच्छा नहीं लगा। मैंने कहा :

'वोवोच्का, स्टेशन तक मेरे साथ चला चल, बेटा। वहाँ से थोड़ी शक्कर खरीद कर तेरे हाथ भेज दूँगी।'

उस दिन मैं बड़ी ही प्रसन्न थी। हम दोनों इधर-उधर की बातें करते दुकान की ओर चले जा रहे थे। हठात् वोवा ने कहा :

'क्या तुम सच ही अगली मौसम में मुझे अनाथालय में भर्ती करा दोगी?'

मैंने गंभीरतापूर्वक उत्तर दिया : 'कराना ही होगा, वोवोच्का! तू ही बतला, और रास्ता क्या है? शहर में एक ही कमरा है। हम सब उसमें रह नहीं सकते। परन्तु मैं वादा करती हूँ कि तू अपनी छुट्टियों के दिन और खाली दिन भी हमारे साथ बिता सकेगा।'

उसने खुश होकर कहा : 'सच कह रही हो?'

मैंने उसे दिलासा देते हुए कहा : 'सच ही कह रही हूँ। बच्चों से पूछ देखना, मैं कभी झूठ नहीं बोलती, न किसी को झाँसा ही देती हूँ।'

उस दिन किस्मत से दुकान भी बन्द थी। अब क्या हो? मैं पशोपेश में पड़ गई। आखिर बोली :

'यह तो बहुत बुरा हुआ। बिना शक्कर के तुम दिन भर क्या करोगे? मैं तो रात से पहले लौटूँगी नहीं।'

'हुँह्, शक्कर कुछ रोटी तो है नहीं कि भूखों मर जाएँगे।' वोवा ने बड़ी ही उपेक्षा से कहा।

'सो तो ठीक है, पर चलो, स्टेशन के फेरीवाले से तुम्हें कुछ मीठा ही खरीद दूँ।'

फेरीवाले के पास शक्कर की बरफी मिली।

'चलो, तुम्हें खाली हाथ नहीं लौटना पड़ेगा। यही खरीदे देती हूँ।'

बरफी एक तो महँगी बहुत थी, दूसरे वजन में भारी भी इतनी थी कि एक पौण्ड की ज़रा-सी चक्ती।

गाड़ी में बैठते हुए मैंने कहा: 'अब कोई फिक्र नहीं। मेरे आने तक तुम्हारा काम मज़े में चल जायगा।'

रात में घर लौटी तो ज़ेनिया अकेली बैठी थी। मेरा लाया सौदा उलट-पुलट कर देखने के बाद उसने बड़ी व्यग्रता से पूछा:

'कुछ मीठा नहीं लाई?'

'शक्कर लाई तो हूँ।'

'और कुछ?'

'मिठाई? सो तो सवेरे भेजी ही थी। क्या चूक गई?'

'कैसी मिठाई?' उसने चकित होकर पूछा।

'कैसी मिठाई? वोवा के हाथ सवेरे खरीद कर भेजी वह मिठाई। और कैसी मिठाई?'

ज़ेनिया ने अपने कन्धे उचका दिये।

'वोवा तो मिठाई-विठाई कुछ नहीं लाया।'

अब आश्चर्यचकित होने की मेरी बारी थी।

'अच्छा ज़ेनिया, यह तो बतलाओ कि वोवा स्टेशन से क्या लाया था?'

'कुछ नहीं, उसने आकर कहा कि दुकान बन्द थी इसलिए शक्कर नहीं मिली।'

'हाँ दुकान तो बन्द थी। उसने ठीक ही कहा। परन्तु बदले में मैंने एक पौण्ड बरफ़ी खरीद दी थी।'

'अम्माँ, यही तो मैं कह रही हूँ कि घर में बरफ़ी-वरफ़ी कुछ न आई।'

ज़ेनिया को गुस्सा आ रहा था और मैं बरफ़ी के लापता होने पर हैरान थी।

मैंने अटकल लगाई: 'सम्भवत: उसने कहीं गिरा दी हो और मारे डर के कहा न हो।'

'कैसी बात करती हो अम्माँ! बरफी कोई सुई थी कि यों गिरा देता! गटक गया होगा सबकी सब! सूअर जो ठहरा।'

'तुम्हारा कहना ठीक भी हो सकता है। परन्तु वोवा को साधारण नाप-दण्डों से जोखना अनुचित होगा। तुम्हें उसके साथ रियायत करना ही चाहिये। उसका भूतकाल भुलाने से काम नहीं चलेगा।'

ज़ेनिया बुरा मान गई। बोली: 'भुलाती कहाँ हूँ? लेकिन उसने अच्छा नहीं किया। मैं भी उसे वह सबक सिखलाऊँगी कि जनम भर न भूलेगा।'

मैं डर गई। पूछा: 'क्या करने जा रही हो?'

ज़ेनिया ने दृढ़ता से उत्तर दिया: 'अनुचित कुछ भी नहीं करूँगी। स्वयं तुम देख लेना। पर शर्मिन्दा उसे ज़रूर करूँगी। अच्छा, कौनसी शक्कर लाई हो?'

'दानेदार।'

'घर में अण्डे तो होंगे?'

'हैं।'

'बस, मेरा काम बन जायगा। अब कल देखना।'

दूसरे दिन बड़े सवेरे ज़ेनिया रसोईघर में बैठी खटर-पटर कर रही थी। मैंने देखा तो पाया कि वह अण्डे की खीर पका रही है।

'जुकाम हो गया है क्या?' मैंने पूछा।

'नहीं तो।'

'फिर यह क्यों बना रही है?'

'अम्मां, मैंने तुमसे कहा तो था। चुपचाप देखती चली जाओ।'

आधे घण्टे बाद मैं, ज़ेनिया, वास्या, वाल्या, और वोवा बरामदे में कलेवा करने बैठे।

मैं मास्को से जो बिस्कुट आदि लाई थी उन्हें देखते ही वास्या खुशी से उछल पड़ा:

'वाह्वा! बिस्कुट हेंगे।'

ज़ेनिया ने बड़े ही सहज भाव से कहा: 'बिस्कुट के साथे दूसरी चीज़ भी है।'

वह झपटकर रसोई घर से अण्डे की खीर का कटोरा उठा लाई। वास्या को अण्डे की खीर सबसे ज्यादा पसन्द थी; परन्तु उसने वाल्या का चढ़ा हुआ मुँह देखा तो कटोरा परे खिसका दिया।

'बस, सिर्फ मेरे लिए ही? वाल्या और वोवा के लिए, और तुम्हारे और अम्मां के लिए कहां है?'

ज़ेनिया मानो इसी क्षण की प्रतीक्षा कर रही थी। उसने सुख की साँस ली और निश्चिन्त होकर कहा:

'और तो है नहीं...'

वास्या ने बिना इधर-उधर किये तत्काल कहा: 'तो मैं सब के साथ बाँटकर खाऊँगा।'

यह देख ज़ेनिया की खुशी का ठिकाना न रहा ।

और मैंने कहा : 'हां वास्या, यही ठीक भी है । सभी के साथ बाँट-चूँटकर खाना चाहिये । अकेले खाना अच्छा नहीं होता ।'

वास्या ने अपनी मन-पसन्द मिठाई का बँटवारा किया । थोड़ा-थोड़ा सभी को देने लगा ।

वोवा पर तो जैसे घड़ों पानी पड़ गया । बेचारे की शकल देखने काबिल हो गई थी । ज़ेनिया ने उसकी ओर देखकर भी न देखा । वह अपनी देखरेख में खीर का बँटवारा करवाती रही ।

'अब थोड़ी-सी वोवा को भी दो ! वाह, क्या कहने हैं, राजा बेटे के । नहीं-नहीं, वोवा, ऐसा नहीं, तुम्हें भी लेना ही होगी ।'

ज़ेनिया की इस योजना को देख मुझे अपार सन्तोष हुआ । बाद में उसने मुझे बतलाया :

'अम्मां, जब मैं खीर लेकर आई तो छाती धड़क रही थी । डर लग रहा था कि वास्या कहीं सब की सब अपने लिए ही न रख ले । मैंने उसे अपनी योजना नहीं बतलाई थी । वह अभी बच्चा ही है । दूसरे, खीर उसे भाती भी खूब है । परन्तु जैसे ही उसने कहा, वाल्या के लिए क्यों नहीं ? तो मुझे अपने आप पर गुस्सा आ गया । उस पर सन्देह करने के लिए मैं मन ही मन अपनी लानत-मलामत करने लगी । आखिर तो वह हमारे ही परिवार का है न ? उस पर सन्देह किया ही कैसे जा सकता था ?'

मैं तो ज़ेनिया की सूझ-बूझ देख कर दङ्ग ही रह गई ।

'अब तो मेरी बेटियाँ भी मेरी सहायता करने लगी हैं ।' मैंने परम सन्तोष के साथ अनुभव किया ।

आठवाँ परिच्छेद

वाल्या छोटी उम्र में ही पढ़ना सीख गई थी। उसने और वोवा ने साथ ही बारहखड़ी सीखी थी और अब दोनों मोटे छापे की बालबोध पुस्तकें भी पढ़ने लगे थे। पतझड़ की मौसम आने तक वाल्या तो धड़ल्ले से पढ़ने लगी थी और दिन-रात जब देखो तब किताब से चिपकी ही रहती थी। तीनों बड़े बच्चों में ज़ेनिया ही उतना पढ़ा करती थी।

'वालिउस्का, बेटी, आलू छीलने में मेरी मदद तो कर।'

'हां, अम्माँ अभी आई।'

उसके बाद चुप्पी। मैं बरामदे में बैठी आलू संवार रही हूँ। और वाल्या मेज़ के आगे जमी किताब पढ़ रही है।

'वालिउषा!'

'हाँ-हाँ, अभी आई एक मिनट में।'

एक छोड़ पांच मिनट हो जाते और वह अपनी पुस्तक के पन्ने उलटती रहती।

'वाल्या!'

कोई जवाब नहीं। मैं उठकर अन्दर जाती हूँ। वाल्या किताब में आँखें गड़ाये चबाने को तैयार खड़ी है। मैं उसके कन्धे पर हाथ रखती हूँ।

'और इसलिए गूँगी ततैया...' वह खोये से स्वर में बोलती है और सूनी आँखों से मेरी ओर देखने लगती है। फिर दूसरे ही क्षण कहती है :

'अम्माँ, मुझे बड़ा रञ्ज है; परन्तु कहानी इतनी मज़ेदार है कि तुम्हें क्या कहूँ ? अच्छा आ रही हूँ।'

किताब हाथ में ही थामे वह बरामदे में दौड़ी आती। सीढ़ियों पर बैठ कर किताब गोद में फैला लेती और चाकू हाथ में पकड़ कर आलू उठाती। दो आलू तो किसी तरह सँवारे जाते परन्तु तीसरा हवा में अधर ही रह जाता और वाल्या फिर अपनी किताब में खो जाती थी।

इस बार किताब बन्द करते हुए मैं ज़ोर से कहती : 'वालिउषा, बन्द करो ! सवेरे से बिना रुके पढ़ रही हो। हर काम के लिए समय होता है।'

वह बुरा मान जाती; परन्तु यह भी जानती थी कि अम्माँ से बहस नहीं की जाती। अब की बार दत्त-चित्त होकर आलू संवारने लगती थी। और थोड़ी देर बाद कहती :

'जब मैं बड़ी हो जाऊँगी तो एक ऐसी मशीन का आविष्कार करूँगी, जो घर का सारा काम किया करेगी। मैं उसे लगा दूँगी और मज़े से पास बैठी किताब पढ़ा करूँगी। बस, बीच-बीच में देख लिया करूँगी कि काम बराबर हो रहा है या नहीं !'

× × ×

इधर हम अपनी बात-चीत में बार-बार 'बोर्डिङ्ग-स्कूल' का उल्लेख करने लगे थे। एक दिन मेरे पति ने हमें बतलाया कि बचपन में वह 'बोर्डिङ्ग-स्कूल' में पढ़ते थे। अब हम अनाथालय के लिए 'बोर्डिङ्ग-स्कूल' का प्रयोग करने लगे थे। जिस अनाथालय में वोवा भर्ती किया जानेवाला था उसे बोर्डिङ्ग-स्कूल ही कहते थे। वोवा को यह शब्द अनाथालय से कम दुःखदायी प्रतीत होता था।

वह बड़े साहस के साथ अपनी विदा और छुट्टियों के दिन हम से मिलने आने की योजनाओं की चर्चा किया करता था। आखिर हमारे शहर लौटने का दिन भी आ पहुँचा। जाड़े की मौसम शुरू हो गई थी। ट्रेन में ज़ेनिया ने मेरे कान में कहा :

'तो अम्मां, कल तुम वोवा का प्रवेश-पत्र ले आओगी ?'

मैंने सिर हिलाकर स्वीकृति दी।

लेकिन कल परसों पर टाला गया और परसों नरसों पर और योंही दिन पर दिन टाले जाने लगे। यह देख मेरे पति को सन्देह होने लगा कि मैं कहीं वाल्या और वास्या को भर्ती कराने वाला किस्सा तो नहीं दुहराने जा रही हूँ ! परन्तु ऐसी बात तो नहीं थी। इस बार तो मैंने दृढ़ निश्चय ही कर लिया था।

एक दिन तो मैं ज़रूरी काग़ज़-पत्र भी ले आई।

वोवा आँखें फाड़े अपने भाग्य का निर्णय करने वाले काग़ज़ों को देखता रह गया।

जब मैं रसोई-घर में गई तो वह मेरे पीछे-पीछे वहाँ आया।

'अम्मां', वह इधर मुझे अम्मां ही कह कर पुकारने लगा था। 'कहीं तुम उस मिठाई के कारण ही तो मुझे नहीं भेज रही हो ?'

मेरी छाती उभर आई और मैंने उसे गले लगा लिया।

'नहीं बेटा, उसका तो किसी ने नाम भी नहीं लिया। वह बात तो कभी की आई-गई हो गई। हम तो भूल भी गये। रहा तुझे भर्ती कराने का सो तो हमने उसके बहुत पहले ही तै कर लिया था। शहर के कमरे में जगह भी तो नहीं है।'

'हां अम्मां, सो तो मैं भी समझता हूँ। जानता हूँ कि तुम मिठाई के कारण मुझे नहीं भेज रही हो। परन्तु मिठाई के ही बारे में मैं तुमसे

कहना चाहता था। परन्तु साहस ही नहीं होता था। रोज दिल कड़ा करता था और रोज हार जाता था। खुद मुझे भी ध्यान नहीं रहा कि मिठाई कैसे चूक गई! स्टेशन से घर वैसे ही काफी दूर है। राह में मैंने सोचा, 'एक बरफ़ी खा लो, कौन देखता है।' परन्तु बरफ़ी इतनी अच्छी थी कि मैं खाता ही गया। थी भी कौन ज्यादा? मुश्किल से आठ-दस तो होंगी ही। जब सिर्फ दो बचीं तो मैं घबड़ाया। उन्हें ले जाकर क्या मुँह दिखलाता? सो मैं उन्हें भी खा गया।'

उसने अपराधी की तरह सिर झुका लिया।

मेरी समझ में नहीं आया कि इसके लिए उसे क्या कहूँ? देर-अबेर उसने अपना अपराध मुक्त कण्ठ से स्वीकार कर लिया था। बेचारे को मन ही मन कितनी यातना सहना पड़ी होगी? मैंने उसे दिलासा देने का प्रयत्न किया:

'सो कोई बात नहीं है, बीती ताहि बिसारि दे अब आगे की सुधि लेय।'

'अम्माँ, उस समय मैं कितना शर्मीन्दा हुआ क्या बतलाऊँ? जीवन भर भुलाये न भूलूँगा!'

'वोवोच्का, मुझे खुशी है कि तू अपना अपराध मुक्त कण्ठ से स्वीकार कर सका। चलो, सब कुछ तेरी समझ में आ गया! आदमी को ईमानदार होना चाहिये। ईमानदारी बड़ी चीज़ है, बेटा! मिठाई का क्या, वह तो ज़रा-सी चीज़ थी।'

वोवा ने अपना दृढ़ निश्चय प्रकट किया: 'मैं कभी बेईमानी नहीं करूँगा।'

दूसरे ही दिन वोवा अनाथालय में भर्ती किया जाने वाला था। वह रात उसकी हमारे यहाँ अन्तिम रात थी। सब बच्चे सो गये थे, परन्तु उसे नींद नहीं आ रही थी। वह अपने बिस्तरे पर पड़ा करवटें बदलता

रहा। अन्धेरे में टटोलती हुई मैं उसके सिरहाने जा बैठी और माथे पर हाथ फेरती हुई बोली:

'सो जा, मेरे लाल, सो जा! सब कुछ अच्छा ही होगा।'

फिर मैंने उसे प्यार किया। उसने लम्बी साँस ली, थोड़ी देर तक मेरी छाती से लगा रहा फिर करवट बदल कर सो गया।

सवेरे मैं बड़े ही कामकाजी ढङ्ग से जल्दी-जल्दी उसका सामान बटोरने लगी। मुझे बच्चों के रोने का डर था। ज़ेनिया घर ही थी। उस साल जाड़े की मौसम में वह दुपहर बाद के स्कूल में जाती थी। उसे मेरी भावनाओं को समझते देर न लगी और वह भी झट-झट मेरी सहायता करने में लग गई। वोवा भी अपने दिल को कड़ा किये रहा। उसने बड़ी ही दृढ़ता से अपना बढ़ईगिरी का सामान पैक किया। परन्तु अन्तिम घड़ी में उसका साहस जवाब दे गया। जब कपड़े-लत्ते पहिनकर हम तैयार हो गये तो उसने दरवाज़े की चौखट पकड़ ली और बुक्का फाड़ कर रोने लगा।

उसे रोता देख वास्या और वाल्या भी रोने लगे। ज़ेनिया अपने आँसू छिपाने के लिए खिड़की में जा खड़ी हुई। स्वयं मुझे भी अपने गले में कुछ अटकता-सा मालूम पड़ा।

मैंने ज़रा सख्ती से कहा: 'शर्म आनी चाहिये। पाँच दिन की तो बात है और तू नयी दुल्हिन की तरह रो रहा है।'

कहने को तो कह गई, परन्तु सूने हो रहे कमरे की ओर मुझ से देखा न गया। सारे कमरे में बिस्तरे ही बिस्तरे थे और वह भरा-पूरा लगता था, परन्तु अब एक बिस्तरा कम हो गया था।

मैंने वोवा का हाथ पकड़ा और हम दोनों घर से बाहर निकले।

× × ×

वीवा के जाने के बाद वाल्या हठ करने लगी कि मुझे भी स्कूल भेज दो।

उसे समझाना मुश्किल हो गया।

'तू अभी छोटी है। सात साल की भी नहीं हुई। स्कूलवाले तुझे भर्ती नहीं करेंगे।'

'उनसे कह देना, यह आठ साल की है।'

'कैसे कह दूँ? झूठ बोलना पड़ेगा?'

'फिर?'

और आध घण्टे बाद वह फिर से यही रट ले बैठती।

'अम्माँ, मैं तो धड़ल्ले से पढ़ने लगी हूँ। यदि सब कुछ घर पर ही सीख जाऊँगी तो फिर मदरसे में क्या पढ़ूँगी?'

उसकी इस अनोखी सूझ पर मुझे हँसी आ जाती।

'फिक्र मत कर। कोई न कोई काम स्कूलवाले ढूँढ़ ही निकालेंगे।

वाल्या का यह आग्रह देख कर मैं सोच में पड़ जाती। अभी वह बहुत छोटी थी, परन्तु उसका समाधान करना भी आवश्यक था। इस साल तो नहीं, परन्तु अगले साल उसे भर्ती करवा सकते थे। जब मैंने उसे यह बतलाया तो वह मारे खुशी के नाचने लगी।

'मैं स्कूल जाऊँगी, मैं स्कूल जाऊँगी।' कहती वह सारे घर में कूदने लगी।

जो उसे मिल जाता उसीको यह खबर सुनाने लगती; और अभी छह महीने की देर थी फिर भी व्यस्त भाव से स्कूल जाने की तैयारियाँ करने लगी। पेन्सिल के टुकड़े और रबर और ज़ेनिया की अधूरी कापियाँ और बक्स आदि इकट्ठा कर एक बस्ते में रख लिया।

थोड़े दिन बाद मैं वोवा को लिवाने उसके अनाथालय गई। मैं ठीक समय पर पहुँची थी और वोवा कपड़े-लत्ते पहिने मेरी प्रतीक्षा ही कर रहा था।

'कहो वोवोच्का, क्या हाल हैं?' मैंने अपनी विव्हलता को छिपाते हुए पूछा।

'बहुत ही बढ़िया हैं। अम्माँ, यहाँ एक छोटी-सी रेलगाड़ी है। हूबहू रेलगाड़ी ही समझ लो। और बढ़ईगिरी के औज़ार भी हैं। मैं तुम्हारे लिए एक पिटारी बनानेवाला हूँ।' उसने उत्साहपूर्वक कहा।

लगता था कि लड़का वहाँ का जीवन देखकर परच गया है।

'और तुम्हारे संगी-साथी कैसे हैं?'

'अच्छे ही हैं।' परन्तु यह बात उसने ज़रा बुझे हुए मन से कही थी। 'मेरा मतलब यह है कि वे हमारे परिवार जैसे नहीं हैं। मुझे सब की बहुत-बहुत याद आती है।'

जब उसकी छुट्टियाँ पूरी हो गईं तो मैंने पाया कि वह लौट जाने के लिए इतना उत्सुक नहीं था।

जाड़े की मौसम इसी तरह बीत गई। हम में से प्रत्येक अपने काम में लगा रहा। मेरे पति ग्लावमुका में व्यस्त थे और लेना अपने कारखाने में। ज़ेनिया पढ़ रही थी और संगीतशाला भी जाने लगी थी। अब वह वहाँ बढ़ियाँ जूते पहिन कर और वर्षा के दिन रबर के चमकते और बिलकुल नये जूते चढ़ा कर जाती थी। सेरेज़ा की चिट्ठियाँ आती रहती थीं। उनसे उसकी खुशी और उत्साह टपकता था। ज्यादातर मैं ही उसके पत्रों का उत्तर देती थी। परिवार के अन्य सदस्य नीचे दो-चार लकीरें लिख देते थे। पत्र-व्यवहार में मेरे बच्चे बड़े ही सुस्त हैं।

और मैं स्वयं थाने के बाल-विभाग में अपना काम किये जा रही थी।

× × ×

एक दिन की बात है। बड़े ज़ोरों का तूफान आया हुआ था। ऐसी मौसम में मैं सेरेतेन्स्काया स्ट्रीट और त्रुब्नाया चौराहे को जोड़नेवाले फुटपाथ को पार कर रही थी। तभी मैंने वोवा की उम्र के कुछ लड़कों को बर्फ पर फिसलते हुए देखा। अपनी जंग लगी 'स्केटों' की रस्सियों से बाँधे वे पहाड़ी से फिसलते थे और सीधे ट्राम के पाटों पर आकर रुकते थे।

मैंने उन्हें रोकने का प्रयत्न किया; परन्तु वे चिल्लाते, सीटियाँ बजाते अपना खेल खेलते रहे।

एक भरी-पूरी ट्राम नीचे की ओर चली जा रही थी और त्रुब्नाया चौराहे की ओर आने वाली मोटर गाड़ियों का तो ताँता ही लग रहा था।

मैं सोचने लगी: 'कितनी खतरनाक जगह है! बच्चों को तो यहाँ खेलने से रोकना ही चाहिये।'

अभी मैं सोच ही रही थी कि एक मर्मभेदी चीख हवा में गूँज गई। सड़क चलते सब के सब लोग जहाँ के तहाँ रुक गये और फिर उधर को लपके जहाँ से चीख सुनाई दी थी। सिपाही की सीटी की तेज़ आवाज़ हवा को चीरती हुई निकल गई और सारा आवागमन जहां का तहां रुक गया। एक डरावनी चीख़ हवा में अभी भी भरी हुई थी।

हो-हल्ले और भीड़-भड़ाके के बीच मैं भी घटना-स्थल पर जा पहुँची। बारह बरस का एक लड़का बर्फ पर पड़ा था। उसका एक पाँव निचोड़े हुए कपड़े की तरह उसके नीचे दबा हुआ था।

उस दुःखदाई दृष्य को देखकर मेरे रोंगटे खड़े हो गये। मैंने अपनी आँखें मूँद लीं। जब एम्बुलेंस गाड़ी के भोंपू की आवाज़ सुनी तब कहीं मुझे होश आया। बिना कुछ सोचे-विचारे पुश्किन चौराहे की ओर जानेवाली जो पहली ट्राम मिली मैं उसी पर सवार होकर मास्को सोवियत पहुँची।

जब मैंने मास्को सोवियत के सांस्कृतिक विभाग में प्रवेश किया, मेरा चेहरा निश्चय ही आन्तरिक पीड़ा से बदल-सा गया था।

'अरे, क्या यह स्वयं श्रीमती नटालिया अलेक्ज़ेन्द्रोवना ही हैं? पर इनका चेहरा तो देखो? आप कहाँ से आ रही हैं?'

किसी ने मुझे बैठने के लिए कुर्सी दी और एक आदमी झट से दौड़कर पानी का ग्लास ले आया। एक साथी, जो मुझे दूसरों की अपेक्षा ज्यादा अच्छी तरह से जानता था, बड़ी ही सहानुभूति से बोला:

'आपको क्या हो गया?'

'मुझे तो कुछ नहीं हुआ, परन्तु...'

और मैंने सारी घटना कह सुनाई।

वे चुपचाप गम्भीरतापूर्वक सुनते रहे।

तब मुझसे पूछा गया: 'आपकी राय में हमें क्या करना चाहिये?'

'कम से कम ढाल पर एक पुलिस मैन तो नियुक्त कर दीजिये। वहाँ एक साइन-बोर्ड लगवा दीजिये। स्वयंसेवकों का पहरा तैनात कर दीजिये। उस जगह को यों ही नहीं छोड़ा जा सकता।

'अच्छी बात है, सब कुछ कर दिया जायगा। आप इस कागज़ पर लिख दीजिये।'

'क्या लिख दूँ?'

'आपने जो कुछ देखा है वह और अपने सुझाव।'

मैंने लिख डाला।

'बड़ा अच्छा किया।' उन्होंने मेरे हाथ झकझोरते हुए कहा: 'थोड़े दिनों बाद जब इधर से निकलें तो आ जाइयेगा। हम आप को जो कार्रवाई की जायेगी उसके सम्बन्ध में बतला सकेंगे।'

परन्तु मुझे जाने की ज़रूरत न पड़ी। पांच दिन बाद मुझे सूचना दी गई कि त्रुब्नाया चौराहे पर, पहाड़ी के नीचे एक साइन-बोर्ड लगा दिया गया है। बच्चों को वहां फिसलने से रोकने के लिए स्वयंसेवकों का एक जत्था भी तैनात कर दिया गया था।

जाड़े की छुट्टियां शुरू हो गई थीं। वोवा ने वे छुट्टियां हमारे साथ ही बिताईं। नये दिन के अवसर पर तो सर्जी भी घर आ गया था। उसे अपने अध्ययन की सन्तोष-जनक प्रगति के उपलक्ष में तीन दिन की छुट्टी का 'पास' मिला था। वोवा ने जब सेरेज़ा की वर्दी देखी तो उसे देखता ही रह गया। बेचारे लड़के के अचरज का कोई ठिकाना न रहा। वह अकसर सब की आंख बचा कर सेरेज़ा की नयी हवाई टोपी पर हाथ फेरने लगता था।

छुट्टियां हमने बड़ी ही धूम-धाम और पारिवारिक ढङ्ग पर बिताईं। एक उत्सव-सा ही मना डाला। नाच-गान और हँसी-मज़ाक का दौर बराबर चलता रहा। एक दूसरे को ढेरों बधाइयाँ दी गईं। फिर सर्जी पियानो बजाने बैठा।

'आओ, हम सब मिलकर गाएँ।'

और उसने 'मास्को हँसता है' खेल का मार्चिङ्ग गीत शुरू किया। यह गीत उसे बहुत प्रिय था।

'...और जो हँस-हँस चलता जीवन-पथ पर,

'कभी न पथ से भटकेगा वह...' ज़ेनिया ने भी उसके स्वर में स्वर मिलाया।

'हमारी कोयल तो खूब कूकने लगी है!' सेरेज़ा ने पियानो रोक कर कहा।

ज़ेनिया ने शरमा कर गाना बन्द कर दिया।

'रुको मत, गाये जाओ।' सेरेज़ा ने आग्रह किया, फिर मेरी ओर देख कर बोला: 'देखना, गजब की गाने वाली निकलेगी यह!'

लेना ने छेड़ा 'भई उस समय हमें 'फ्री पास' देना भूल न जाना।'

'तुम्हें बड़ी ईर्ष्या होती है। मारे ईर्ष्या के मरी जाती हो।' ज़ेनिया ने कस कर थप्पड़ मारा।

'बेवकूफ कहीं की।' लेना ने तमक कर कहा। 'मुझे ईर्ष्या क्यों होने लगी? तू मज़ाक भी नहीं समझ सकती?'

परन्तु झगड़ा जितनी जल्दी शुरू हुआ था उससे पहले तो ख़त्म भी हो गया था।

हँसी-खुशी के वातावरण को कोई बिगाड़ना नहीं चाहता था। मैं बच्चों के इन झगड़ों में कभी हस्तक्षेप नहीं करती थी और आज भी इस नियम को बनाये हुए हैं। परन्तु लड़कियों की यह आपसी कहा-सुनी सर्वथा निराधार तो नहीं ही थी।

यह कहना तो ठीक न होगा कि लेना ज़ेनिया से ईर्ष्या करती थी। लेना स्वभाव की बहुत ही उदार थी और ईर्ष्या उसके स्वभाव से सर्वथा विपरीत बात थी।

परन्तु तीनों बड़े बच्चों में अभी तक सिर्फ उसी ने अपने भविष्य के सम्बन्ध में कोई निश्चित योजना नहीं बनाई थी। सेरेज़ा का लक्ष्य निश्चित हो गया था और वह उसकी प्राप्ति के लिए हाथ धोकर पीछे भी पड़ गया था। ज़ेनिया अपनी संगीत की धुन में मस्त थी। अकेली लेना अभी तक पढ़ रही थी। उसने अभी तक किसी खास पेशे के लिए अपनी रुचि प्रकट नहीं की थी और एक तरह से हवा में ही झूल रही थी।

× × ×

कई महीने यों ही बीत गये। कोई उल्लेखनीय घटना न घटी। सेरेज़ा के पत्र आते रहते थे। परन्तु अब उसके पत्रों में उसकी उड़ानों का ही

वर्णन होता था और इन वर्णनों की संख्या बढ़ती जाती थी। उसे व्यावहारिक मामलों में तो कोई कठिनाई नहीं पड़ती थी। वहाँ उसका काम बड़ी अच्छी तरह चल जाता था। परन्तु विमान-विद्या के सिद्धान्तों को ठीक से समझने में बड़ी कठिनाई पड़ती थी। हाईस्कूल की पढ़ाई न करने के कारण वह गणित उतना नहीं जानता था, और इसी से सारी कठिनाई पेश आ रही थी।

अपने एक पत्र में उसने स्वीकार भी किया था कि 'पिताजी का कहना सच था : अब मुझे दुगुनी मेहनत करना पड़ती है। मैं वास्या को यह गलती हरगिज़ नहीं करने दूँगा।'

पत्र पढ़कर मैंने सोचा: 'वह कितना समझदार हो गया है! अपने अनुभव से छोटों को सिखलाना चाहता है। परन्तु इस तरह के प्रयत्न हमेशा व्यर्थ साबित होते हैं। आदमी बड़ा होकर भूल जाता है कि स्वयं अपने बचपन में उसने दूसरों के अनुभवों से लाभ उठाना अस्वीकार कर दिया था। यह बिलकुल स्वभाविक है। कहते हैं न कि बिना मरे स्वर्ग देखने को नहीं मिलता। जब तक अपने आप पर नहीं बीतती है आदमी मानने को तैयार ही नहीं होता।'

और वास्या और वाल्या दोनों भाई-बहिन अभी इतने छोटे थे कि सेरेज़ा के अनुभव से कोई लाभ ही नहीं उठा सकते थे।

मेरे इन दोनों छोटे बच्चों के स्वभाव और रुचि में इतना अन्तर था कि मुझे देखकर आश्चर्य होता था। दोनों सगे भाई-बहिन थे। एक ही माँ के पेट से जन्मे थे और दोनों की धमनियों में एक ही रक्त प्रवाहित हो रहा था! उनकी रुचि, व्यवहार, आकांक्षा आदि में थोड़ी सी भी समानता की अपेक्षा करना स्वाभाविक ही था। डाक्टर के कथनानुसार उनकी उम्र में भी अधिक अन्तर नहीं था। वाल्या अपने भाई वास्या से उम्र में बारह या अठारह महिने से ज्यादा बड़ी न थी। फिर भी उन दोनों में कितना अन्तर था?

वाल्या अति भावुक, शरमीली और हठी थी। इसके विपरीत वास्या मस्तमौला और आग्रही था। वाल्या सफाई-पसन्द, प्रबन्ध-कुशल और चीज़ों को बटोर कर रखने वाली थी। वास्या बिलकुल उदार, मनमौजी और थोड़ा ऊलजलूल था। वाल्या को पढ़ना, कसीदा काढ़ना, काग़ज़ के चित्र काटना आदि निरुपद्रवी काम पसन्द थे। वास्या किताबों को छूता भी न था। उसे जानवरों के पीछे दौड़ना, उछल कूद करना और ऐसे ही शारीरिक श्रम के काम अच्छे लगते थे। वाल्या कोई बात अपने मन के प्रतिकूल होते ही मुँह फुलाकर कोने में जा बैठती और घण्टों भुनभुनाया करती थी। वास्या गुस्सैल था, परन्तु उसका क्रोध क्षण-स्थायी होता था। गुस्सा दिलाते ही चिल्ला लेता था, मारपीट कर लेता और ठण्डा हो जाता था। जहाँ वास्या में चारित्रिक दृढ़ता का अभाव था वहीं वाल्या में चरित्र-बल कूट-कूट कर भरा था। दृढ़ इच्छा-शक्ति, लगन और अध्यवसाय का उसमें ज़रा भी अभाव न था।

यदि सगे भाई-बहिन में इतना अन्तर था तो फिर मेरे तीनों बड़े बच्चों में, जो अलग-अलग माताओं के पेट से जन्मे थे, पूरब-पश्चिम का अन्तर होना स्वाभाविक ही था। और वोवा तो मेरे सभी बच्चों में बिलकुल ही निराला था।

× × ×

वोवा अनाथालय में रहता और खाली दिन हमारे साथ बिताता था। वह औसत दर्जे का विद्यार्थी था। उसकी हस्त-कौशल के कामों में बड़ी रुचि थी। वह अपने काम के सम्बन्ध में बड़ी ही बुद्धिमत्तापूर्ण और कभी-कभी उत्साह से भी बातें करता था। लेकिन अनाथालय के सम्बन्ध में, न जाने क्यों, कुछ भी नहीं बतलाता था।

वह हमारे घर को अपना ही घर समझता था। परन्तु यह बतलाना कठिन है कि घर में किसके साथ उसकी अधिक निकटता थी। ज़ेनिया

उम्र में उससे थोड़ी बड़ी होने के साथ ही साथ लड़की भी थी । बाल्या और वास्या बहुत बहुत छोटे थे । यदि सर्जी होता तो सम्भवतः वोवा पर उसी का प्रभाव सबसे अधिक पड़ता । मेरी निकटता में तो वह सकुचा जाता था । वह समझता था कि मैं 'अम्माँ' हूँ और मेरी बात मानना ही होती है । फिर भी वह अपने मन की बात खुलकर मेरे आगे नहीं कह पाता था । इसका कारण यह भी हो सकता है कि बचपन से उसकी ऐसी आदत नहीं बन पाई थी । आगे जिस घटना का मैं वर्णन करने जा रही हूँ, मेरे खयाल में, उसके मूल में यही बात हो सकती थी । कम से कम मेरा तो यही विश्वास है ।

एक बार, छुट्टी होने पर, वोवा घर न आया । इधर वह आप ही आने लगा था । मुझे तो तभी मालूम पड़ा, जब मैं रात को लौट कर घर आई । जानकर बड़ी चिन्ता हुई ।

मैंने अनाथालय टेलिफ़ोन किया । नौकरानी टेलिफ़ोन पर आई । मैंने वोवा पोनारिन के सम्बन्ध में पूछा और जानना चाहा कि वह कहाँ है और घर क्यों नहीं आया ? थोड़ी देर बाद नौकरानी ने बड़े ही उकताये हुए स्वर में उत्तर दिया: 'मास्टरनी बाई तो हैं नहीं और किसी को इस सम्बन्ध में कुछ मालूम नहीं है ।'

आधे घण्टे बाद मैंने फिर फोन किया । कोई जवाब न मिला । देर भी काफ़ी हो गई थी । रात के दस बज चुके थे ।

हमने सुबह तक प्रतीक्षा करने का निश्चय किया । लेकिन सवेरे भी कोई उत्तर न मिला । मैं तो बहुत ही घबरा गई और दौड़ी-दौड़ी अनाथालय पहुँची ।

बार-बार घण्टी बजाने पर एक दासी आई और मुझे अन्दर लिवा ले गई ।

'मास्टरनी बाई हैं ?'

'नहीं'

'कहाँ गईं ?'

'चली गई हैं ?'

'और डाइरेक्टर ?'

'वह भी नहीं हैं।

'फिर बच्चों के सम्बन्ध में किससे मिलना होता है ?'

'सुपरवाइज़र से।'

'उन्हीं को बुलाओ।'

दासी ने लम्बी सांस ली और मुझे दरवाज़े पर ही छोड़कर अन्दर चली गई।

बड़ी देर तक प्रतीक्षा करने के बाद सुपरवाइज़र आई।

'क्या आप वोवा पोनारिन के लिए आई हैं ? कहिये, क्या हुआ ?'

'जी हाँ, उसी के लिए आई हूँ। वह कल से घर नहीं आया है।'

उस औरत ने बड़ी ही लापरवाही से पूछा: 'कल ?'

मुझे गुस्सा तो आ गया था; परन्तु फिर भी मैंने बड़े ही संयत स्वर में अपनी बात दुहराई:

'जी हाँ, वह कल घर क्यों नहीं आया ?'

'लेकिन वह तो पिछले चार दिनों से आपके ही साथ है। फिर मैं कैसे बतलाऊँ कि घर क्यों नहीं गया ?'

'चार दिनों से ? कैसे चार दिन ? क्या कह रही हैं आप ? हमने तो पिछली छुट्टी के बाद से उसकी सूरत तक नहीं देखी है।'

पूछताछ करने पर पता चला कि चार दिन पहले वोवा डाइरेक्टर से छुट्टी माँग कर चला गया था। उसने बतलाया था कि 'फ्लोमर माता' ने

किसी अत्यन्त आवश्यक कारण से उसे बुलाया है। सहज लापर्वाह डाइरेक्टर ने तत्काल उसकी बात का विश्वास कर लिया। मुझसे पूछने की आवश्यकता भी न समझी और वोवा को छुट्टी दे दी।

मैं बड़ी चिन्तित हुई और वहाँ से सीधे कतुआर पहुँची। रास्ते भर तरह-तरह की दुश्चिन्ताएँ मेरे मन में उठती जाती थीं।

वोवा कतुआर में सही-सलामत मिल गया। परन्तु उसके यों भाग आने का कारण उसी समय जानने को न मिल सका।

जाड़े का मौसम बिताने के लिए जो बुढ़िया वहाँ हमारे साथ रहती थी उसने बतलाया कि वोवा चार दिन पहले आया था और उसने कहा था कि वह अब वहाँ हमेशा के लिए रहने आया है।

'वोवा, यह सब क्या गड़बड़ झाला मचा रखा है ?' मैंने कठोर होकर पूछा।

सुनते ही उसके चेहरे का रंग पीला पड़ गया।

'अम्माँ,' उसने पहले तो अनुनय भरे स्वर में कहा, परन्तु दूसरे ही क्षण ढीठतापूर्वक बोल उठा :

'तुम मुझे वहाँ हर्गिज़ नहीं रख सकतीं !'

'वोवोच्का तुझे हो क्या गया है ? जबर्दस्ती तुझे वहाँ भेजता ही कौन है ? तुने ही तो कहा था कि अनाथालय तुझे पसन्द है।'

'हुँह,' पसन्द है !' उसने शब्दों को चबाते हुए कहा : 'पर मैं वहाँ अब हर्गिज़ जाने का नहीं।'

इससे अधिक वह कुछ भी बतलाने को तैयार न हुआ। यह देख मैंने भी अपना पूछने का ढङ्ग बदला :

'अच्छी बात है, यदि तुम मुझे बतलाना नहीं चाहते हो तो मत बतलाओ। चलो, शहर चलें। वहाँ वे लोग चिन्ता कर रहे होंगे।'

'मैं नहीं चलता, तुम मुझे फिर अनाथालय भेज दोगी।'

'मैं कहीं नहीं भेजूँगी। तुझे जाना होगा तो अपने मन से ही जायगा। यहां तो तू भूखों मर जायगा।'

'गाय तो है, भूखों क्यों मरूँगा?'

'पगले खाली दूध पीकर कैसे जियेगा? चल, आज वहां दावत है।'

मैंने किसी तरह उसे राज़ी कर लिया और हम शहर के लिए रवाना हुए।

हमारे डिब्बे में और कोई नहीं था।

हठात् उसने पूछा: 'अम्मां सच्चा मित्र किसे कहते हैं?'

'जो कभी भी तुम्हारा भेद न दे, चाहे उसे कितनी ही तकलीफ़ क्यों न उठाना पड़े।'

वह चुप हो गया। तभी मुझे एक बात सूझ गई। मैंने धीरे-धीरे कहना शुरू किया:

'लेकिन कई बार देखा गया है कि सच्चे मित्र भी बदल जाते हैं। मान लो कि तुम्हारा एक दोस्त है, जिसने तुम्हारी जान भी बचाई है। परन्तु अब उसकी आदतें बिगड़ गईं और वह, मान लो, कि चोरी ही करने लगा। अब ऐसे आदमी के साथ दोस्ती का धर्म निबाहना ठीक नहीं कहा जा सकता।'

'तुम मुझे यह क्यों कह रही हो?' वोवा ने शङ्कित होकर पूछा।

'वैसे ही। कोई खास बात नहीं है।'

'लेकिन वहां वाले तो ऐसा नहीं समझते।' उसने बड़े ही प्रयत्न-पूर्वक कहा: 'वे तो शिकायत करने वाले को 'भेदिया' समझते हैं।'

उसके मुँह से 'भेदिया' सुनकर मेरे कान खड़े हो गये ! अक्सर आवारा लड़के ही इस शब्द का प्रयोग करते थे; क्योंकि थाने पर काम करते हुए मैं इस शब्द से परिचित हो गई थी । परन्तु मैं हैरान थी कि बोवा को यह शब्द कहाँ सुनने को मिला ? कहीं वह आवारों की सोहबत में तो नहीं पड़ गया था ?

मैंने उसको अपने विश्वास में लेते हुए कहा: 'वोवोच्का, मुझसे छिपाने की ज़रूरत नहीं, मैं तेरी मदद कर सकती हूँ ।'

'अम्माँ, तुम नहीं समझ सकतीं । ये ऐसी बातें हैं...' उसने हाथ हिलाते हुए बड़ी ही व्याकुलता से कहा ।

'डरो मत बेटा, मैं सब तरह की बातों को जानती हूँ । मुझे बतला दो ।'

'अच्छी बात है, तो सुनो । वे लड़के चोरी करते हैं और मुझे यह अच्छा नहीं लगता ।'

'कौन से लड़के ?'

'अनाथालय वाले । और एक दो नहीं, कई हैं ।'

इतना कह कर वह चुप हो गया । ऐसा लगा मानों भेद प्रकट कर देने के लिए उसे पश्चात्ताप हो रहा हो । और चूँकि हम मास्को के निकट पहुँच रहे थे इसलिए उस समय आगे बातें हो भी न सकीं ।

घर पर सभी चिन्तित हो रहे थे । जहाँ सिर्फ घण्टे भर में लौट आने की उम्मीद थी वहाँ पहर रात हो गई थी ।

मैंने सभी प्रश्नों का संक्षिप्त-सा उत्तर दिया: 'और कोई चारा नहीं था । अब समय क्यों बेकार गँवाया जाय । चलो, खाना खा लें ।'

भोजन करते-कराते और भी देर हो गई । छोटे बच्चों को तो मैंने सुला दिया; और लेना, ज़ेनिया और वोवा को घूमने के लिए भेज दिया । जब हम पति-पत्नी अकेले रह गये तो उनसे सारी घटना कह सुनाई ।

उन्होंने नाराज़ होकर कहा: 'बड़ी वाहियात संस्था है। बच्चे चार-चार दिन गुम रहते हैं फिर भी उनके कानों पर जूँ तक नहीं रेंगती!'

हमने तै किया कि रात में वोवा से कुछ न पूछा जाय। सवेरे देखा जाएगा।

दूसरे दिन घर में जब मैं और वोवा अकेले रह गये तो मैंने वही कलवाला प्रसंग छेड़ दिया। बड़ी मुश्किल से पूछ-पूछ कर मैंने सारी बात मालूम कर ली। क़िस्सा यों था:

अनाथालय में लड़कों की एक टोली थी, जो चोरी का धन्धा करती थी। शक्कर, टावेल, तश्तरियाँ, चादरें जो मिल जाता उन्हीं को वे गायब कर देते थे।

उस टोली में कुल बारह लड़के थे। तीन सरदार थे, जो वोवा की ही क्लास में पढ़ते थे। वे तीनों अपने सहपाठियों से उम्र में काफ़ी बड़े थे। पहले दर्जे में लगातार दो साल ना पास हुए थे और दूसरे दर्जे में यह उनका तीसरा साल था। उनमें से एक लड़के की उम्र चौदह साल की और दूसरे दोनों की तेरह-तेरह साल की थी।

उन्होंने बाक़ी के सब लड़कों पर आतङ्क जमा रखा था। छोटे बच्चे उनसे डरते और बिना ननुनच किये उनका हुक्म बजा लाते थे।

वे सरदार छोटे बच्चों से उनकी मिठाई, क़िताबें, कपड़े और खिलौने हड़प लेते थे। जो कुछ बेचा जा सकता था, उसे बेच देते थे। कई बार अकारण ही अपनी दुष्टता के कारण चीजों को तोड़-फोड़ भी डालते थे। जो बच्चे भीरु और आज्ञाकारी होते उन्हें अपनी टोली में सम्मिलित कर लेते थे। अनाथालय में परिवार वाले बच्चों की संख्या बहुत थोड़ी थी। वोवा उन्हीं भाग्यवानों में से एक था। सरदारों की दृष्टि में चोरी का माल ठिकाने लगाने के लिए वह बड़ा ही उपयुक्त व्यक्ति था। छुट्टी के दिन चोरी का माल ले जाकर वह 'गाहकों' के यहाँ पहुँचा सकता था।

उन बदमाशों का विरोध करने का किसी को साहस न होता था। जो शिकायत करते उनकी बुरी तरह से पिटाई की जाती थी।

सोवियत देश के एक अनाथालय में इस तरह की स्थिति का होना सचमुच ही बड़ा आश्चर्यजनक था। लेकिन वोवा की जबानी मुझे मालूम हुआ कि उनकी गुण्डागिरी को रोकने वाला कोई नहीं था। अभी तक उस अनाथालय में पयोनियरों (बालचरों) का ठीक से संगठन नहीं हो पाया था। रहे सुपरवाइज़र; सो आये दिन उनकी बदली होती रहती थी। जिस सुपर-वाइज़र से मैं सवेरे मिली थी उस बेचारी को वहाँ आये अभी तीन ही सप्ताह हुये थे और उसकी हालत भी अपने पूर्ववर्ती लोगों से अच्छी न थी।

दूसरों की तरह उसने भी एक सभा बुलाई थी, परन्तु उसे बच्चों के सम्बन्ध में कुछ भी जानने को न मिला। और सभा में उसने जो वादे किये थे उन्हें वह पूरा न कर सकी। उन सरदारों की ओर किसी का ध्यान ही नहीं जा पाता था। वोवा के कथनानुसार तो शिक्षक भी उनसे भय खाते थे।

'मैं वहाँ हर्गिज़ नहीं जाऊँगा।' वोवा लगातार इस बात को दुहराता रहा और मैंने पाया कि वह बुरी तरह आतङ्कित हो रहा था।

'तुमने डाइरेक्टर से क्यों नहीं कहा?' मैंने उससे पूछा: 'इन बद-माशों की शिकायत उससे क्यों नहीं करते? वह उन्हें वहाँ से निकाल देगा और सारा झगड़ा पाक हो जायगा।'

उसने हताश भाव से उत्तर दिया: 'वह भी उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकेगा। वे बदमाश मास्को के हर अनाथालय में रह आये हैं। वे तो शेखी भी बघारते हैं कि सभी उन्हें जानते और उनसे डरते हैं!'

मैं उसकी इस बात का भरोसा न कर सकी। ज़ोर देकर बोली:

'ये बातें उन्होंने तुम्हें डराने के लिए गढ़ रखी हैं। कमज़ोर दिल-वालों को रस्सी भी साँप मालूम पड़ती है।

परन्तु जब मैंने स्वयं मामले की जाँच-पड़ताल की तो रस्सी विषधर भुजङ्ग निकली !

वोवा को घर पर ही छोड़ मैं अकेली अनाथालय के डाइरेक्टर से मिलने गई । जाने क्यों, उसने मुझे बड़े ही अविश्वास के भाव से देखा। जब मैंने उसे बतलाया कि उसके अनाथालय में चोर-बच्चों की टोली है तो उसने बड़ी ही अप्रसन्नता व्यक्त की और बोला: कई लड़कों में बात का बतङ्गड़ बनाने की आदत होती है ।'

'लेकिन पता लगाने में हर्ज़ ही क्या है ? सम्भव है कि चोरियाँ होती हों ! क्यों न लड़कों से निःसंकोच होकर बातें की जायें ? यदि आप चाहें तो मैं इस बात का पता भी लगा सकती हूँ कि वे चोरी का माल कहाँ बेचते हैं ?'

उसने मुँह बिचकाकर कहा: 'क्षमा कीजियेगा, श्रीमतीजी ! परन्तु जासूसी करने की मुझे जरा भी फुर्सत नहीं है ।'

वह मुझे बड़ा ही तुच्छ, घमण्डी और दुष्ट प्रकृति का आदमी लगा ।

उससे कोई आशा न बँधते देख मैंने पायोनियर नेता को पकड़ा । परन्तु उसने तो मेरी कोई बात ही न सुनी ।

तब मैंने शिक्षा-समिति का दरवाज़ा खटखटाने का निश्चय किया ।

वहाँ मुझसे एक लम्बी-चौड़ी रिपोर्ट लिख कर देने के लिए कहा गया। और तब वादा किया गया कि मामले की 'जाँच' की जायेगी । जब मैं वहाँ से भी हताश होकर लौट रही थी तो मुझे एक नया विचार सूझा:

'क्यों न मास्को सोवियत चला जाय ?'

मैं वहाँ गई ।

मेरे पुराने और परिचित मित्रों ने बड़े ही ध्यान से सारी बात सुनी और बिना दफ्तरी काररवाई के तत्काल जाँच-पड़ताल करने का आश्वासन दिया । उन्होंने मुझे सलाह दी:

'फिलहाल वोवा को वहां मत भेजिये । सम्भव है कि वे बदमाश उसे भी पटाने का प्रयत्न करें ।'

दूसरे ही दिन मास्को सोवियत से मेरे नाम टेलिफोन आया:

'जाँच-पड़ताल शुरू हो गई है और वोवा का हर्ज न हो इसलिए हम उसे दूसरी संस्था में भर्ती कराने का प्रबन्ध किये देते हैं ।'

मैंने उन्हें हार्दिक धन्यवाद दिया ।

'दूसरे अनाथालय में भर्ती होगे ?' उसी रात मैंने वोवा से पूछा ।

'पता नहीं वह कैसा होगा ?'

'अच्छा ही होगा । वहां वे बदमाश लड़के न होंगे ।'

लेकिन उसका सन्देह दूर न हुआ ।

तब मैंने बड़ी ही गम्भीरता से कहा: 'वोवोच्का, तुम बड़ी ही जल्दी हार मान लेते हो । इतना समझ लो कि बिना संघर्ष के जीवन में कुछ नहीं मिला करता । उन लड़कों के फन्दे में न फँस कर, उनसे न डर कर और उनका भण्डाफोड़ कर तुमने बड़ा ही अच्छा काम किया ।'

वोवा को विचारमग्न देखकर मुझे सोवियत बच्चों के आदर्श नायक पावलिक मोरोज़ोव पायोनियर की कहानी याद आ गई । ज़ेनिया ने उसका किस्सा बड़ी ही दिलचस्पी के साथ पढ़ा था ।

'तुमने कभी पावलिक मोरोज़ोव का नाम सुना है ।'

'नहीं ।'

मैंने ज़ेनिया को पुकार कर कहा:

'ज़ेनिच्का, वोवा को पावलिक मोरोज़ोव की कहानी तो सुनाना, भला ।'

'तुमने वह किताब अभी तक नहीं पढ़ी ? अच्छा, मैं लाकर देती हूँ ।'

आधे घण्टे बाद मैंने देखा कि वोवा एक पुरानी किताब में आँखें गड़ाये बैठा है। उसे अपने तन-बदन की भी सुधि नहीं रह गई थी और वह उसके पन्ने लौटता जा रहा था। जब सोने का वक्त आकर चला गया और रात काफी बीत गई तो मैंने उससे कहा :

'वोवा, अब सो जाओ। बाकी, कल पढ़ लेना।'

कोई जवाब नहीं।

'वोवा!' मैंने दुबारा टोंका।

'अम्माँ!' इस बार ज़ेनिया ने बीच-बचाव किया: 'तुम्हारा यह तरीका अच्छा नहीं। इतने महत्त्वपूर्ण विषय से बच्चों को यों अलग नहीं करना चाहिये।'

मैं अपनी हँसी न रोक सकी।

'ज़ेनिया, तू तो बड़ी-बूढ़ी की तरह बोलने लगी है। भला सुनूँ तो कि यह सब कहाँ सीखा?

ज़ेनिया चुप साध गई। मैंने हँसते हुए कहा:

'और अनुसासन, दिन के कार्यक्रम और बड़े-बूढ़ों की आज्ञाकारिता के सम्बन्ध में तुम्हारा क्या कहना है?'

'मगर अनुशासन के पालन में उचित-अनुचित का खयाल तो होना ही चाहिये।' उसने साभिमान उत्तर दिया।

'आधी रात तक जागते रहना उचित है?'

'उचित तो यह होगा कि उसे किताब पूरी कर लेने दी जाय।' ज़ेनिया ने उपदेशात्मक ढङ्ग से बात शुरू की थी, परन्तु दूसरे ही क्षण बालसुलभ स्वर में बोल उठी: 'ओह अम्मां। काश, तुमने वह किताब पढ़ी होती! तुम खुद उसे बिना पूरी किये न उठतीं।'

'अच्छा भई, तू ही जीती, मैं हारी।'

दूसरे दिन सवेरे बोवा ने मुझे रसोई घर में आकर उत्सुकतापूर्वक कहा : 'अम्माँ, मैंने पहले वाले अनाथालय में ही जाने का निश्चय किया है ।'

'क्यों ?'

'क्योंकि पावलिक होता तो वह भी ऐसा ही करता ।'

मुझे कोई जवाब न सूझ पड़ा । यह तो कभी सोचा भी न था कि उक्त पुस्तक का इतना प्रभाव होगा । मैं बोवा को नयी परेशानियों में नहीं डालना चाहती थी । परन्तु उक्त पुस्तक से वह इतना अधिक प्रभावित हुआ था कि अब बड़ी ही सावधानी की आवश्यकता थी ।

'निस्सन्देह, भाग खड़े होना अच्छी बात नहीं है । परन्तु तुम अपना काम कर चुके हो । तुमने सारी गन्दगी का भण्डाफोड़ कर दिया है । अब आगे का काम बड़े-बूढ़ों के लिए छोड़ दो । वे सब निपट लेंगे ।'

लेकिन पावलिक खुद ही उनसे निपटता ।' बोवा अपनी बात पर अड़ा रहा ।

'सब कुछ परिस्थितियों पर निर्भर करता है ।' और काफी बहस मुबाहसे के बाद तब कहीं मैं उसे दूसरे अनाथालय में जाने के लिए राज़ी कर सकी ।

घर से विदा होते समय उसने बड़ी ही गम्भीरता से कहा : 'अब आगे मैं हमेशा पावलिक की तरह ही आचरण करूँगा ।'

'बड़ी खुशी की बात है । मैंने सम्मति दी और पायोनियरों का नारा दुहराया :

'सावधान !'

'सदा सावधान !' उसने उत्तर दिया ।

× × ×

थोड़े दिनों बाद मुझे मास्को सोवियत से सूचना मिली कि अनाथालय की जांच-पड़ताल में हद दर्जे की घूसखोरी और बेईमानी पकड़ी गई। डाइरेक्टर बड़ा ही चलता-पुर्जा आदमी था। वह खुद बदमाशों से मिला हुआ था। और सारा प्रपंच उसी का रचा हुआ निकला। वहां के सब नौकर-चाकर उसी की हां में हां मिलाने वाले थे और वह वैसे ही लोगों को छांट कर रखता था। ईमानदार लोगों को वह वहाँ टिकने ही नहीं देता था। अन्त में वहां का सारा प्रबन्ध ही बदल दिया गया। टोली के सरदारों को पकड़ कर सुधार-घरों में भेज दिया गया और वहां का काम सुचारु रूप से चलने लगा।

× × ×

सन् १९३७ में, स्कूल खुलते ही वाल्या भर्ती कर ली गई। जिस मनोयोग से उसने पढ़ना शुरू किया वह मेरे अन्य बच्चों में दुर्लभ ही था। वह अपनी पाठ्य-पुस्तकों और कापियों को अच्छी तरह सम्भाल कर रखती थी। जरा-सी धूल लगते ही झाड़-पोंछकर साफ़ कर देती थी। वास्या को तो भूलकर भी अपनी किताबें नहीं छूने देती थी।

एक बार जब वह उसकी पाठ्य-पुस्तक में एक कठिन शब्द पढ़ने का असफल प्रयत्न कर रहा था तो वह उस पर बरस पड़ी: 'बेवकूफ़, गधा कहीं का।'

फिर उसे पढ़ाने की धुन सवार हुई और उसने घोषणा की:

'मैं वास्या को पढ़ाऊँगी।'

कहने के साथ ही उसने पढ़ाना शुरू भी कर दिया।

परन्तु वास्या के दुर्भाग्य से उसके 'मास्टरजी' बड़े ही उतावले और चौकस निकले। यदि एक बार में बात वास्या की समझ में न आती तो वह उसे डपटना शुरू कर देती थी। एक बार मैंने सुना:

'वास्या, तू निरा गधा है। सुन, फिर से दुहराती हूँ। एक लड़के के पास पाँच नीबू हैं और तेरे पास तीन। तो बतला कुल कितने नीबू हुए!'

गिनने की झंझट से मुक्ति पाने के लिए उसने बड़ी ही चतुराई से कहा: 'बहुत-से।'

यदि वास्या का ध्यान कहीं बँट जाता, वह जम्हाई लेने लगता, चंचल हो उठता या पढ़ने से जी चुराने लगता तो वाल्या के क्रोध का ठिकाना न रह जाता। 'मास्टरजी' का पार्ट अदा करते-करते वह उसमें इतनी तल्लीन हो जाती थी कि अपने भाई को बहुवचन में संबोधित करना शुरू कर देती थी। स्कूल में अपने मास्टरों को जो कहते सुनती, वही उसके आगे अक्षरशः दुहराने लगती:

मेज़ को अपनी पेन्सिल से खट-खटाते हुए कहती: 'बच्चो, यदि तुम ध्यान न दोगे तो पढ़ाई न हो सकेगी। मेहरबानी कर खामोश बैठो।'

यह सुनकर वाल्या खिलखिलाकर हँस पड़ता।

'अम्माँ, सुना? बहिन क्या कह रही है? मुझे कह रही हैं, बच्चो। हा-हा-हा...'

इस पर वाल्या बुरा मान जाती और रोने लगती थी।

यह रोना-धोना इतना अधिक होने लगा कि मैं 'गुरु-शिष्य' के खेल को बन्द करने का कोई उपाय सोचने लगी। और शीघ्र ही इस समस्या का सदा के लिए अन्त भी हो गया। मैंने इधर एक दुकान के लिए खिलौने बनाने का काम शुरू किया था। वाल्या और वास्या को खिलौने बनाने के काम में इतना आनन्द आने लगा कि 'गुरु-शिष्य का अभिनय' सदा के लिए बन्द हो गया।

अब उन्होंने सारी प्रतियोगिता और उत्साह खिलौने बनाने के काम में लगा दिया था। घर में कपड़े की रङ्गीन चिन्दियाँ, रङ्ग-रोगन और लकड़ी का बुरादा बिखरा पड़ा रहने लगा था। मैं मुर्गे और मुर्गियों का

आगा-पीछा काट कर सीती जाती थी और दोनो नन्हें बच्चे उनके खोल में लकड़ी का बुरादा भरते थे। फिर मैं खोल का मुँह सीती, तार के पाँव फँसाती और उन पर रोगन चढ़ाती थी। शाम को मेरे पति के घर लौट कर आने तक हम तीनों माँ-बेटे इसी काम में लगे रहते थे।

मेरे पति आते ही मेरी खिल्ली उड़ाना शुरू कर देते थे: 'कुछ न कुछ किया कर, कुछ न हो तो पायजामा उधेड़ कर सीया कर। क्या बेकार का धन्धा ले बैठी हो!'

वाल्या मुँह फुला कर कहती: 'बेकार क्यों है? अम्मां कहती है कि यदि हमने पाँच सौ जोड़े बना लिये तो उतनी रक़म में मेरे और वास्या के लिए नये कोट खरीदे जा सकते हैं।'

मैं उसकी बात के समर्थन में कहती: 'इसमें क्या शक है।'

'अच्छी बात है भई, मेरे लिए भी हो सके तो, एक कोट का जुगाड़ कर देना!' वह कहते।

कभी-कभी लेना और ज़ेनिया भी हमारी मदद करती थीं। लेना आगा-पीछा जोड़ती और ज़ेनिया मुर्गों की कलंगी पर रङ्ग चढ़ाती थी। ज़ेनिया काम करती जाती थी और अपने कोकिल कण्ठ में गाने भी लगती थी।

उसका मधुर स्वर सुन कर मैं मन ही मन कहती: 'लड़की की आवाज़ तो बड़ी मधुर है। उसे अच्छी तरह गाना सिखलाना ही चाहिये।'

× × ×

एक दिन शाम को हम इसी तरह बैठे काम कर रहे थे। वाल्या लिखने की मेज़ की दराज़ में न जाने क्या ढूँढ़ रही थी कि एक जिल्द बँधी नोट-बुक उसके हाथ पड़ गई। उसे ऐसी नोट-बुकें बहुत पसन्द थीं।

'अम्मां, इसे मैं रख लूँ?'

'नहीं बेटी, यह पिताजी की है।'

बच्चे पिताजी के काग़ज़ों को हाथ नहीं लगाते थे। अपने आपको पढ़ी-लिखी समझने वाली वाल्या की समझ में भी पिताजी की किताबों के नाम और काग़ज़ों पर लिखी इबारत नहीं आती थी। इसलिए वह तो उन्हें और भी अधिक संभ्रम से देखती थी। बीजगणित के सूत्रों के साथ लिखी टिप्पणियाँ उसे वेद मंत्र-सी मालूम पड़ती थीं। फिर भी नोट-बुकों के पन्ने पलटने से वह बाज न आती थी। उस दिन भी उसने एक नोट-बुक के पन्ने पलटे और लगभग घण्टे भर बाद ज़ेनिया से पूछा :

'क्यों जीजी, चुनाव किसे कहते हैं ?'

ज़ेनिया ने गर्व से कहा : 'तुम अभी बच्ची हो। चुनाव तुम क्या समझोगी ?'

उन दिनों देश में 'सुप्रीम सोवियत' के चुनावों की तैयारियाँ हो रही थीं। प्राथमिक चुनाव इतने जोर-शोर से हुए थे, कि उनके प्रभाव से हमारा घर भी अछूता नहीं रहने पाया। चुनाव साहित्य ढेर का ढेर हमारे घर में भी आने लगा और मेरे पति एक नोट-बुक में अखबारों से 'नोट' भी लेते जाते थे।

यह सोचकर कि ज़ेनिया अन्यमनस्क है, मैंने जितने सरल ढंग से समझा सकती थी, उन्हें चुनाव के सम्बन्ध में समझाने का प्रयत्न किया।

दोनो बच्चों ने मन्त्र-मुग्ध होकर पूछा : 'और क्या हम भी स्तालिन को वोट दे सकते हैं ?'

'जरूर, हम उन्हीं को वोट देंगे और इस बात का निश्चय करेंगे कि वही चुनकर आएँ।'

दूसरे दिन वाल्या स्कूल से दौड़ती हुई घर आई और मुझसे पूछा :

'क्यों अम्माँ, क्या तुम भी चुनाव में काम कर रही हो ?'

'नहीं, बेटी, तुमसे किसने कहा ?'

'मैंने सोचा था कि तुम भी होगी ।' उसने निराश होकर कहा ।

शाम को जब हम बैठे खिलौने बना रहे थे तो घण्टी बजी । वाल्या दौड़कर दरवाज़े पर गई । उसने हाल में से ही चिल्लाकर कहा :

'अम्मां, गृह-समिति की ओर से कोई तुमसे मिलने आये हैं ।'

गृहसमिति के सदस्यों का मुझसे मिलने आना कोई नयी बात नहीं थी । बच्चों की समस्याओं को लेकर गृह-समिति के सदस्य मुझसे अकसर मिलने के लिए आते रहते थे । परन्तु इस बार उनका आगमन बच्चों की समस्याओं को लेकर नहीं हुआ था ।

गृह-समिति के सभापति ने मुझसे कहा : 'कामरेड फ्लौमर, चुनाव-क्षेत्र के अधिकारियों ने मुझसे पूछा है कि महिला वोटरों को चुनाव के लिए तैयार करने का काम कौन गृहिणी कर सकती है ! अब बुरा मानो या भला, मैंने तो आपका नाम दे दिया है ।'

मैं घबरा गई : 'आपने यह क्या किया ? मैं इस काम को भला कैसे कर सकूँगी ?'

परन्तु मैं काम में लगा ही दी गई ।

पहले ही दिन मेरी भेंट एक बड़े ही मज़े की औरत से हुई । उसका नाम स्त्योशा था । जिस मंजिल पर हम रहते थे वह भी वहीं रहती थी । वह दाई का धन्धा करती थी । उम्र चालीस साल से कुछ अधिक ही होगी । सारी उम्र दूसरों के बच्चों का लालन-पालन करते बीती थी । अभी साल भर से ही पढ़ना-लिखना सीखा था । क्रान्ति के बाद उसकी छोटी बहिनें और छोटे भाई, उसी के शब्दों में, 'कुछ बन गये थे' । एक भाई कृषि-विशारद था । दूसरा बड़ा ही कुशल ट्रैक्टर-चालक था । एक बहिन किसी सामूहिक खेती की मुनीम थी । स्त्योशा अपने भाई-बहिनों की प्रगति से सन्तुष्ट मालूम पड़ती थी । उसने बड़ी ही गम्भीरतापूर्वक मुझसे कहा :

'कामरेड स्तालिन ने हमारे सारे जीवन को सुखी और सम्पन्न बना दिया।'

सुप्रीम सोवियत के चुनावों की बात सुनकर उसने चुनाव-कार्यकर्ता से कहा :

'मैं तो कामरेड स्तालिन को ही वोट दूँगी। और किसी को अपना वोट देने वाली नहीं हूँ। आपके सब काग़ज़ों पर लिख दूँगी : कामरेड स्तालिन। इसी दिन के लिए तो मैंने पढ़ना-लिखना सीखा है।'

कार्यकर्ता ने उसे बहुतेरा समझाया कि प्रस्तावित उम्मीदवार को वोट देने का मतलब कामरेड स्तालिन को ही वोट देना है, परन्तु वह टस से मस न हुई।

उसका सिर्फ एक ही जवाब था : 'मेरे साथ माथा मारने से कोई लाभ नहीं। मैंने तो निश्चय कर लिया है। मुझे वोट देने का अधिकार है और मैं उस अधिकार का उपयोग कामरेड स्तालिन के ही पक्ष में करूँगी।'

मुझसे कहा गया कि मैं जाकर उसे समझाऊँ।

'वह बिलकुल बच्चे की तरह है और आप बच्चों को समझाना अच्छी तरह जानती हैं।

मेरे जाने पर स्त्योशा ने मुझे चुनौती दी :

'अब तुम आई हो बक-झक करने? मैंने न तो पहले वाले की बात सुनी और न तुम्हारी सुनूँगी!'

फिर भी हमने बातचीत शुरू की।

मैंने उसे इस बहाने अपने घर बुलाया कि रसोई घर में बात करने की अपेक्षा वहाँ बैठकर बातें करना ज्यादा अच्छा रहेगा।

स्त्योशा ने मेरा निमन्त्रण स्वीकार कर लिया, क्योंकि उसे यह जानने की उत्सुकता थी कि 'मानी-माँ' के साथ पाँच बच्चे किस तरह रहते हैं!

जब वह आई तो मैं उसके साथ बीते दिनों की बातें करने लगी। मैंने उसे बतलाया कि क्रान्ति से पहले स्वयं मैं किस तरह देहात के एक स्कूल में पढ़ाती थी और कितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। वह सहानुभूतिपूर्वक सुनती रही। क्षणभर के लिए भी उसे मेरे इरादों के प्रति कोई सन्देह नहीं पैदा हुआ। फिर मैं विषय बदल कर शिक्षकों के सम्बन्ध में, और उनके उपयोगी धन्धे के विषय में कहने लगी, और बड़ी ही सावधानी से उस सुप्रसिद्ध शिक्षिका के नाम का उल्लेख किया जो हमारे चुनाव क्षेत्र से खड़ी हुई थी। स्त्योशा के कपाल में सल पड़ गये परन्तु वह मुँह से कुछ न बोली।

उसकी उन सिलवटों को मैंने देख कर भी न देखा और निर्दोष भाव से कहती चली गई: 'मेरी ज़िनिया उन्हीं के पास पढ़ती है। उतनी अच्छी औरत है कि तुम्हें क्या बतलाऊँ! वह अमुक जगह की रहने वाली है...'

स्त्योशा हमारे उम्मीदवार का जीवन-चरित्र मन्त्र-मुग्ध होकर सुनती रही। फिर हमने उसका फोटू देखा और वह विचारों में डूबी उठ खड़ी हुई।

शीघ्र ही मुझे सुनने को मिला कि स्त्योशा ने जिस उम्मीदवार को वोट देने का निश्चय किया था उसका जीवन-चरित्र अपने मिलने-जुलने वालों को सुनाती फिर रही थी।

उन्हीं दिनों घर की देख-भाल करने और थोड़ा दूध लाने के लिए मुझे कतुआर जाना पड़ा। लेना भी साथ थी। हम जैसे ही स्टेशन से बाहर निकलीं ग्राम पंचायत के सदस्यों ने हमें घेर लिया:

'नटालिया अलेकज़ेन्द्रोवना, भई, हमारे कार्यकर्ताओं की थोड़ी सहायता करो। सारा गाँव तुम्हें जानता है। ज़रा डेनिल इगोरोविच के इधर भी हो आना।'

डेनिल इगोरोविच पचहत्तर बरस का बूढ़ा था । अपनी जवानी के दिनों में, जैसा कि वह अक्सर बतलाया करता था, उसने कलुगा के खण्ड-हरों की खुदाई का काम किया था । परन्तु अब बुढ़ापे में कतुआर पुरे की चौकीदारी कर रहा था, और इसी में मस्त था ।

जाड़ों की लम्बी रातें वह दीये के आगे बैठकर पढ़ने में बिताता था । उसकी यह पढ़ाई सिर्फ काउण्ट सेलियास के उपन्यासों तक ही सीमित थी । पता नहीं वे पुरानी पोथियाँ कैसे बची रह गई थीं ?

उसके डेरे पर जाकर मैंने जो बात-चीत की वह नीचे दे रही हूँ :

'कहो बाबा, पढ़ रहे हो ?'

'हां, बहिन, पढ़ रहा हूँ ।'

'अखबार भी पढ़ते हो ?'

'अखबार ? नहीं बहिन, नहीं पढ़ता । उनका छापा इतना बारीक होता है कि अक्षर नहीं सूझते । सब लीपा-पोती हो जाती है ।'

'अच्छा, मैं तुम्हें पढ़कर सुनाती हूँ ।'

मैं उसके समीप तिपाई पर बैठ गई और बड़ी देर तक पढ़कर सुनाती रही । डेनिल इगोरोविच घर की बनी सिगरेट का धुआँ उड़ाता सुनता रहा । जब मैं साँस लेने के लिए रुकती तो वह कहता :

'क्यों बहना, थोड़ा और नहीं सुनाओगी ?'

आखिर मैं चश्मे को संभालती हुई उठ खड़ी हुई ।

बूढ़े ने लम्बी सांस ली और उत्सुकतापूर्वक बोला : 'हाँ बहिना, अखबार के क्या कहने हैं ? बड़े ही काम की चीज़ हैं । परन्तु मेरे पास चश्मा नहीं है । एक बार डाक्टर से नम्बर लिया तो था...'

दूसरे दिन सवेरे जब मैं और लेना शहर के लिए रवाना हुई तो मैंने उससे कहा :

'लेना बिटिया, तुझे इसी सप्ताह एक बार और यहाँ का चक्कर लगाना पड़ेगा।'

'यहाँ का ? क्यों ?'

'डेनिल इगोरोविच के लिए कुछ अखबार और चश्मा लाना है।'

दूसरे सप्ताह जब मैं कतुआर पहुँची तो तरह-तरह की कहानियाँ सुनने को मिलीं।

'आप तो अपने पीछे कुछ काम करने वाले भी छोड़ गईं ! लेना बहिन आई थीं और गाँव के एक-एक घर जाकर अखबार पहुँचा आईं। और डेनिल इगोरोविच का तो कहना ही क्या ? हर किसान औरत को शिक्षित करने का जी तोड़ प्रयत्न कर रहा है। आप आएँगे और चश्मा लगा कर कहेंगे, अच्छा तो देवियो, अब हम एक जगह इकट्ठा होकर अखबार पढ़ेंगे। देखें, चुनाव की क्या खबर आई है ! और जब तक आप आदि से अन्त तक पूरा अखबार नहीं सुना देंगे, रुकने का नाम न लेंगे। ज़रा सा ऊँचा सुनता है, परन्तु अब तो उसने इसको अच्छा-खासा बहाना ही बना लिया है। आप लाख कहिये दद्दू, मुझे फुर्सत नहीं है। परन्तु दद्दू कहाँ सुनते हैं ? कहेंगे, एँ ? क्या कहा ? मैं ज़रा ऊँचा सुनता हूँ। अच्छा, सुनो। आगे लिखा है कि...

मैं डेनिल इगोरोविच के डेरे पर गई। बूढ़ा चुपचाप ओठ चलाता हुआ 'प्रावदा' का सम्पादकीय पढ़ रहा था।

'मश्क कर रहा हूँ। सवेरे औरतों को सुनाता हूँ। वे अपने बच्चों में और दूसरे कामों में लगी रहती हैं और अखबार बेकार पड़े रहते हैं। परन्तु शाम को कुछ बूढ़े आ जुटते हैं और उन्हें सुनना ही पड़ता है।'

'और आपके काउण्ट सेलियास के क्या हाल हैं ?' मैं पूछ बैठी।

'भाड़ में जाय वह ससुरा! किताब मोटे छापे की न होती और मेरी आँखें कमज़ोर न होतीं तो मैं उसको छूता ही क्यों।'

उसी चुनाव आन्दोलन में ज़ेनिया ने अप्रत्याशित रूप से एक नयी प्रतिभा का परिचय दिया! वह बच्चों को हिलाने में बड़ी कुशल थी।

कार्यकर्ताओं को मदद के लिए मुझसे ज़ेनिया की माँग की गई और मैंने सहर्ष स्वीकृति दे दी। एक दिन वह और उसकी सहेली वाल्या घर घर जाकर गृहिणियों को सभा में बुला लाईं।

मैं उस दिन कतुआर गई हुई थी इसलिए सभा में सम्मिलित न हो सकी। बाद में ज़ेनिया ने ही मुझे बतलाया था:

'कुछ औरतें अपने साथ बच्चों को भी लाई थीं। वे चिल्ल-पों मचा कर और दौड़-धूप कर सभा की काररवाई में विघ्न डाल रहे थे। हमने उन्हें चुप करना चाहा, परन्तु कोई लाभ न हुआ। मैं अध्यक्ष के पास खड़ी थी। मैंने सोचा, सब चाहते हैं कि मैं बच्चों को किसी तरह चुप रखूँ। जहाँ सभा हो रही थी वहाँ रेडियो समिति की ओर से आया हुआ एक छोटा रेडियो रखा था। मैं रेडियो सहित बच्चों को लेकर बाहर चली आई और रेडियो बजा कर उन्हें सुनाने लगी। बच्चे बड़े खुश हुए।'

'क्या कहने हैं रानी बिटिया के!' मैंने उसका हौसला बढ़ाते हुए कहा।

उसके बाद चुनाव क्षेत्र में मदद करने के लिए अकसर ज़ेनिया के नाम बुलौवा आने लगा। वह ऐलान करती, दीवाल-पत्र के लिए बुलेटिन इकट्ठा करती या ज्यादातर चुनाव-केन्द्रों पर बच्चों की सार-सम्भाल करती थी। अब तक ज़ेनिया का बदन अच्छी तरह भर गया था और वह सोलह साल की होते हुए भी अठारह से कम की न दिखती थी। एक बार तो इसको लेकर बेचारी को रोना भी पड़ा था।

बात यों हुई कि उस बार भी मैं शहर से बाहर गई हुई थी। ज़ेनिया के नाम गृह-समिति का बुलौवा आया और वह हमेशा की तरह

दौड़ी गई । पांच मिनट के बाद मारे खुशी के नाचती हुई लौट आई । उसके हाथ में एक टिकट था ।

'पिताजी, अपने क्षेत्र में अच्छा काम करने के उपलक्ष में मुझे यह टिकिट मिला है ।'

डेविड इवानोविच ने टिकट देखा और बड़ी निर्ममतापूर्वक उसे अपनी जेब के हवाले करते हुए कहा :

'यह टिकिट तो नाच का है । नाच में सम्मिलित होने की अभी तुम्हारी उम्र नहीं है । तुम नहीं जाओगी ।'

ज़ेनिया फूट-फूट कर रोने लगी । उसको ईनाम जो मिला था ! परन्तु डेविड इवानोविच अपनी बात पर डटे रहे ।

बाद में उसने मुझे बतलाया कि मन बहुत उदास हो गया तो वह अपनी सहेली वाल्या के यहां चली गई । दोनों लड़कियों ने मन बहलाने के लिए ग्रामोफोन चालू किया, थोड़ी देर तक शिकवा-शिकायत करती रहीं और अन्त में इस निर्णय पर पहुँचीं कि टिकिट का बेकार जाना अच्छा नहीं हुआ; रहा उसके 'अच्छे काम' का प्रश्न सो उसके पिता की 'निर्ममता' भी उसे उससे वंचित नहीं कर सकती थी ।

परन्तु बाद में मैंने उसे समझा दिया और उसकी समझ में भी आ गया कि पिताजी ने ठीक ही किया था ।

चुनाव के दिन ज़ेनिया ने 'पोलिङ्ग बूथ' (वह जगह जहां वोट देने के लिए लोग जमा होते हैं) पर संगीत के एक छोटे-से जलसे में भाग लिया था ।

'फेडरल रेडियो कमीशन' के कुछ सदस्य हमारे साथ वहां काम कर रहे थे । जलसे के बाद उन्होंने कहा :

'आपकी पुत्री का स्वर तो बड़ा ही मधुर है । क्या आप उसे बच्चों के एक दल के साथ रेडियो पर गाने की अनुमति देंगी ?'

मेरा प्रसन्न होना स्वाभाविक ही था ।

और इस तरह ज़ेनिया गाने लगी ।

× × ×

इन बातों को दो साल हो गये हैं । इस बीच तो कई परिवर्तन हो गये । सर्जी ने विमान-विद्या की परीक्षा पास कर ली और युराल के परे, दूर के एक हवाई-मार्ग पर हवाई जहाज़ भी चलाने लगा । उसने शादी भी कर ली ।

शादी हो जाने के बाद ही हमें उसके बारे में मालूम हुआ । हमारे 'दाम्पत्य-जीवन की रजत जयन्ति' के अवसर पर वह आया हुआ था ।

उस अवसर पर सिर्फ हमारा अपना परिवार ही एकत्रित हुआ था । भोजन करते समय उसने अपनी शादी की बात बतलाई । उसकी पत्नी का नाम लिडिया स्तेपानोव्ना है ।

लेना ने भी शादी कर ली । उसके पति को हम पहले से ही जानते थे। वह कतुआर निवासी हमारे एक पड़ौसी का बेटा है ।

१९३९ के सितम्बर महीने में लेना के एक लड़की हुई । उसका नाम वेतोच्का रखा गया । वह मेरी पहली नातिन है । पहली इसलिए कि सर्जी के भी तानेच्का नाम की एक लड़की है । वह यहीं मास्को में १९४० की तेरहवीं फरवरी के दिन पैदा हुई थी । बच्चा होने से दो महीने पहले वह अपनी बीवी को लाकर हमारे पास छोड़ गया और आप काम पर लौट गया था ।

मैं स्वयं प्रसूति गृह से सेरेज़ा की बच्ची को अपने घर लिवा लाई । एक बार फिर हमारा घर शिशु के रुदन-स्वर से गूँज उठा है । जब अपने यहाँ के खरहों की खाल के बने नन्हें जूतों को देखती हूँ तो ऐसा लगता है मानों मेरा सारा जीवन फिर से शुरू हो रहा है ।

ज़ेनिया अब उन्नीस बरस की युवती है। वह बड़े ही परिश्रमपूर्वक अपने कोकिलकण्ठ को साध रही है। अपना अधिकांश समय वह अपने दादा और जीजी के नन्हें बच्चों के साथ बिताती है।

वोवा पोनारिन भी जवान हो गया है और अपना फ़ुर्सत का समय हमारे साथ ही बिताता है।

मेरी नातिनों के सिवा वाल्या और वास्या को भी अभी मेरी देख-रेख की आवश्यकता पड़ती है।

वाल्या तीसरी कक्षा में पहुँच गई है। वह खूब-खूब पढ़ती है और बड़ा सुन्दर कसीदा काढ़ती है।

वास्या अभी छोटा है। स्कूल जाने की उसकी अभी उम्र नहीं हुई है। वह घर के कामों में काफी हिस्सा बँटाता है। सुन्दर को जोत-कर जब वह बग़ीचे में हल चलाता है तो मैं देखकर खुशी से बावली हो उठती हूँ। वह और वाल्या बाड़ी का सारा काम करते हैं और उसमें तरह-तरह के प्रयोग भी किया करते हैं।

डेविड इवानोविच की पेन्शन हो गई है। मगर फिर भी वह ग्लाव-मुका में काम पर जाते हैं। घर बैठना उन्हें अच्छा नहीं लगता। हमेशा की तरह, अब भी मैं घर-गिरस्ती के कामों में, थाने के बालविभाग में और खिलौने बनाने में अपना समय बिताती हूँ। खिलौने बनाने में मेरे बच्चे भी मेरी सहायता करते हैं।

मैं अब साठ साल से ऊपर की हुई; परन्तु जीवन के प्रति स्नेह और ममता में कोई कमी नहीं हो पाई है। मैं अब भी जीवन को उतना ही प्यार करती हूँ।

अब भी सवेरे पांच बजे उठती हूँ, घोड़ी और गाय को ओसारे से बाहर लाकर बगीचे में बांधती हूँ और समोवर (चाय बनाने का रूसी बर्तन) चढ़ाती हूँ। बड़े सवेरे कड़क (तेज़) चाय का एक प्याला लेकर बरामदे में बैठी हुए क्षितिज की ओर देखना तथा बीते हुए और आने वाले दिनों के सम्बन्ध में, हां, आने वाले दिनों के सम्बन्ध में सोचना मुझे अच्छा लगता है!